पार्श्वनाथ विद्याश्रम ग्रन्थमाला

: ८ :

बौद्ध और जैन आगमों में नारी-जीवन

डा० कोमलचन्द्र जैन

एम० ए०, पी-एच० डी०, आचार्य (जैनदर्शन व प्राकृत)

सच्चं लोगम्मि सारभूयं

सोहनलाल जैनधर्म प्रचारक समिति

अमृतसर

बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी द्वारा पी-एच. डी.
की उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध

सम्पादक :
डा० मोहनलाल मेहता
अध्यक्ष,
पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान
वाराणसी–५

प्रकाशक :
सोहनलाल जैनधर्म प्रचारक समिति
गुरु बाजार
अमृतसर

प्राप्ति-स्थान :
पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान
जैनाश्रम
हिन्दू यूनिवर्सिटी, वाराणसी–५

मुद्रक :
बाबूलाल जैन फागुल्ल
महावीर प्रेस
भेलूपुर, वाराणसी–१

प्रकाशन–वर्ष :
सन् १९६७

मूल्य :
पन्द्रह रुपये

स म र्प ण

श्रद्धेय गुरुवर्य डा० सिद्धेश्वर भट्टाचार्य

को

सादर

प्रकाशकीय

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी के रतनचन्द स्मारक शोधछात्र डा० कोमलचन्द्र जैन, एम० ए०, पी-एच० डी० का बौद्ध और जैन आगमों में नारी- जीवन नामक प्रस्तुत प्रबन्ध सोहनलाल जैनधर्म प्रचारक समिति द्वारा प्रकाशित तीसरा शोध-ग्रन्थ है । डा० जैन समिति के पांचवें सफल शोध-छात्र हैं ।

प्रस्तुत प्रबन्ध का विषय अत्यन्त रोचक है क्योंकि यह प्राचीन तथ्यों से सम्बद्ध होता हुआ भी वर्तमान पीढ़ी की रुचि से शून्य नहीं है । लेखक ने भिन्न-भिन्न काल के भिन्न-भिन्न प्रभावों एवं तत्कालीन अवस्थाओं का चित्रण किया है तथा अपने प्रबन्ध को प्रकाशित रूप में देखने के लिए उत्साहपूर्ण परिश्रम किया है ।

समिति पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान के अध्यक्ष के प्रति कृतज्ञ है जिनकी देखरेख में संस्थान प्रगति कर रहा है तथा जिनके निर्देशन में शोधछात्र कार्य करते हैं । समिति काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के प्रोफेसर डा० सिद्धेश्वर भट्टाचार्य के प्रति भी अपने शिष्य एवं प्रस्तुत प्रबन्ध के लेखक को सुचारु एवं उपयोगी मार्गदर्शन देने के लिए कृतज्ञता व्यक्त करती है ।

हरजसराय जैन
मन्त्री

प्राक्कथन

प्राचीन भारतीय साहित्य प्रधानतः तीन भाषाओं में उपलब्ध है : संस्कृत, पालि और प्राकृत । संस्कृत में भारतीय संस्कृति की ब्राह्मण और श्रमणरूप दोनों परम्पराओं का प्रचुर साहित्य है । आधारभूत प्राचीन बौद्ध साहित्य पालि में तथा मूलभूत प्राचीन जैन साहित्य प्राकृत में उपलब्ध है । श्रमण-संस्कृति की इन दो धाराओं का अर्वाचीन साहित्य संस्कृत भाषा में भी है । ब्राह्मण-संस्कृति का आधारभूत समस्त साहित्य संस्कृत में ही है ।

ब्राह्मण-परम्परा में उपलब्ध प्राचीन संस्कृत साहित्य के आधार पर ऐसे अनेक ग्रन्थों का निर्माण हुआ है जो भारतीय नारी के जीवन पर पर्याप्त प्रकाश डालते है, किन्तु श्रमण-परम्परा में उपलब्ध प्राचीन प्राकृत एवं पालि साहित्य के आधार पर अभी तक एक भी ऐसा ग्रन्थ नहीं लिखा गया है जिसमें भारतीय नारी-जीवन के समस्त पहलुओं पर पर्याप्त विचार किया गया हो। डा० कोमलचन्द्र जैन ने प्रस्तुत पुस्तक में इसी कमी की पूर्ति की है ।

बौद्धों एवं जैनों के मूलभूत अथवा आधारभूत प्राचीन ग्रन्थ आगम कहलाते है । इन आगमों में समाज एवं संस्कृति के विभिन्न रूपों पर पर्याप्त सामग्री उपलब्ध होती है । इन रूपों में नारी-जीवन का भी समावेश है जो किसी अन्य रूप से किसी भी दृष्टि से कम महत्त्व का नहीं है । डा० जैन के विवेचन की एक विशेषता यह है कि उन्होंने आगमों के मूल रूप तथा नारी के मूल रूप दोनों की सुरक्षा की है । प्रस्तुत विवेचन में मूल आगमों का विशुद्ध अनुसरण तो है ही, नारी का मूल रूप भी पूर्णतया सुरक्षित है । डा० जैन का प्रस्तुतीकरण अथवा प्ररूपण कहीं भी आग्रह एवं अभिनिवेश का शिकार नहीं होने पाया है और न कहीं उसमें किसी प्रकार की विकृति अथवा विक्लवता का ही प्रवेश हुआ है ।

बौद्ध और जैन आगमों के अन्तिम संकलन की पूर्वापरता को दृष्टि में रखते हुए ही प्रस्तुत ग्रन्थ में स्थान-स्थान पर बौद्ध आगमों के युग अर्थात् बौद्ध-युग के बाद जैन आगमों के युग अर्थात् जैन-युग की चर्चा की गई है । वैसे महावीर और बुद्ध समकालीन थे अतः दोनों की वाणी अर्थात् जैन और बौद्ध आगम अन्ततोगत्वा समकालीन ही सिद्ध होते हैं ।

सोहनलाल जैनधर्म प्रचारक समिति के तत्त्वावधान में पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान जैनविद्या के अनुसन्धान में संलग्न है । डा० जैन ने इस संस्थान के शोधछात्र के रूप में ही प्रस्तुत ग्रन्थ का निर्माण किया है जिस पर बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी ने उन्हें पी-एच. डी. की उपाधि से विभूषित किया है । यही एक तथ्य ग्रन्थ की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है ।

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान
वाराणसी–५
२४–४–१९६७

मोहनलाल मेहता
अध्यक्ष

प्रस्तावना

आजकल प्राचीन भारतीय-संस्कृति को जानने के लिए भारतवासियों के अतिरिक्त अन्य देशवासी भी अत्यधिक उत्सुक हैं। इस देश की संस्कृति के कुछ ऐसे भी विषय हैं जिनकी जिज्ञासा विशिष्ट विद्वानों के साथ-साथ सामान्य जनता को भी है। उन विषयों में नारी-जीवन का प्रमुख स्थान है।

भारतीय-संस्कृति के निर्माण में नारी-समाज ने प्रारम्भ से ही महत्त्वपूर्ण कार्य किये हैं। नारी के कारण समय-समय पर संस्कृति का रूप भी परिवर्तित हुआ है। उसे कभी पुरुष के समकक्ष माना गया है तो कभी भोग-विलास की वस्तु मात्र। अतः भारतीय-संस्कृति के पूर्ण ज्ञान के लिए नारी-जीवन का ज्ञान होना आवश्यक है।

ईसा के लगभग एक हजार वर्ष बाद भारत पर मुसलमानों का आक्रमण प्रारम्भ हुआ तथा दो-तीन सदियों के उपरान्त यहाँ उनका राज्य भी हो गया। यह राज्य, जो कि इतिहास में मुगल-साम्राज्य के नाम से विख्यात हुआ, नारियों के विकास में अत्यधिक घातक सिद्ध हुआ। कारण, उक्त राज्य में नारी के शील-रक्षण का प्रश्न सबसे महत्त्वपूर्ण हो गया। फलतः नारियों की सामाजिक गति-विधियों पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया तथा वे परदे के भीतर बन्द-सी कर दी गईं। इससे नारियों की शिक्षा को गहरा आघात पहुंचा और वे एक प्रकार से अज्ञानता एवं पराधीनता के बन्धनों में जकड़ दी गईं।

तदुपरान्त भारत पर अंग्रेजों ने अपना राज्य कायम किया। यद्यपि अंग्रेजों के शासन-काल में शिक्षा का प्रसार हुआ किन्तु अंग्रेजी भाषा को दिये गये अत्यधिक महत्त्व के कारण इस देश की जनता ने संस्कृत, पालि, प्राकृत आदि भाषाओं में लिखे ग्रन्थों में बिखरी भारतीय-संस्कृति को जानने या उस पर गौरवशील होने का अनुभव ही नहीं किया। फलतः अंग्रेजी-राज्य के उत्कर्ष के दिनों में प्राचीन भारतीय संस्कृति के किसी भी विषय पर भारतीयों द्वारा अनुसन्धान कार्य नहीं के बराबर हुआ।

उक्त अंग्रेजी-राज्य का उत्कर्ष अधिक दिनों तक नहीं रहा। २०वीं सदी के प्रारम्भ में इस देश की जनता के हृदय में भी पराधीनता से मुक्ति पाने एवं भारतीय-संस्कृति को जानने की उत्कट आकांक्षा उत्पन्न हुई। परिणामतः यहाँ एक ओर स्वतन्त्रता-आन्दोलन को बल मिला तथा दूसरी ओर प्राचीन

संस्कृति के प्रेमी भारतीयों द्वारा संस्कृति के विभिन्न अंगों पर अनुसन्धान कार्य किये गये। इसमें सन्देह नहीं कि उपर्युक्त विभिन्न अंगों में नारी-जीवन को भी महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ।

भारतीय-संस्कृति मुख्य रूप से दो भागों में विभक्त की जाती है—वैदिक-संस्कृति एवं श्रमण-संस्कृति। श्रमण-संस्कृति के उपलब्ध साहित्य की अपेक्षा वैदिक-संस्कृति का उपलब्ध साहित्य कालक्रम की दृष्टि से अधिक प्राचीन है। वैदिक-संस्कृति के मूल साहित्य में वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, धर्मसूत्र आदि प्रमुख हैं जिनका समय ईसा पूर्व दो हजार वर्ष से लेकर ईसा पूर्व तीन सौ वर्ष के लगभग माना जाता है। श्रमण-संस्कृति के आज तक दो रूप जीवित हैं—जैन-संस्कृति एवं बौद्ध-संस्कृति। इन दोनों ही संस्कृतियों के मूल साहित्य को आगम-साहित्य के नाम से कहा जाता है। सामान्यतया इन आगमों की पूर्व-सीमा ईसा पूर्व पाँचवीं सदी एवं पर-सीमा ईसा की पाँचवीं सदी मानी जाती है जिसका विस्तृत विवेचन अन्यत्र में किया गया है।

वैदिक-साहित्य के आधार पर ऐसे अनेक ग्रन्थ लिखे गये हैं[1] जिनमें तत्कालीन नारी-जीवन का चित्र निहित है, किन्तु आगमों के आधार पर 'नारी-जीवन' नामक विषय पर स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं के बराबर लिखे गये हैं। जैनागमों के आधार पर डा० जगदीशचन्द्र जैनकृत जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज एवं डा० जोगेन्द्रचन्द्र सिकदरकृत स्टडीज इन दि भगवती-सूत्र नामक ग्रन्थ लिखे गये हैं जिनके कुछ पृष्ठों में नारी-जीवन का भी वर्णन किया गया है किन्तु चूँकि उक्त ग्रन्थों में तत्कालीन समाज के सभी अंगों को स्पर्श किया गया है, अतः उनमें नारी-जीवन के ऊपर यथेष्ट प्रकाश नहीं डाला जा सका है। हाँ, बौद्धागमों के आधार पर नारी-जीवन पर दो स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखे गये हैं जिनमें प्रथम विमल चरण ला कृत "विमेन इन बुद्धिस्ट लिटरेचर" एवं द्वितीय हारनर कृत 'विमेन अण्डर प्रिमिटिव बुद्धिज्म" है। इनमें से प्रथम ग्रन्थ, जैसा कि उस के नाम से ही स्पष्ट हो जाता है, आगमों की अपेक्षा उत्तरवर्ती बौद्ध-साहित्य पर ही अधिक आधारित है। द्वितीय ग्रन्थ में भी आगमों के टीका-साहित्य का प्रयोग तो किया ही गया है, साथ ही उसमें बौद्ध-युगीन नारी के सामाजिक-जीवन की तुलना में भिक्षुणी-जीवन पर ही अधिक प्रकाश डाला गया है। इसके अतिरिक्त बौद्ध एवं

---

१. (a) Women in the Vedic Age.
(b) Women in the Sacred Laws.
(c) Position of Women in Hindu Civilization.

जैन दोनों ही आगमों को आधार बनाकर 'नारी-जीवन' पर आज तक कोई भी ग्रन्थ नहीं लिखा गया है।

उक्त अभाव की पूर्ति के लिए यह प्रयास किया गया है। प्रस्तुत प्रबन्ध के निर्माण में आधारभूत सामग्री ऐतिहासिक क्रम से प्राप्त मूल-आगमों से ही ली गई है किन्तु जहाँ-कहीं मूल-आगमों में प्राप्त उल्लेखों के स्पष्टीकरण के लिए टीका-साहित्य की आवश्यकता प्रतीत हुई, वहाँ उसका भी उपयोग करने में संकोच नहीं किया गया है।

आगम एवं नारी—

आगमों को सरसरी दृष्टि से देखने पर ज्ञात होता है कि उनमें अधिकांश स्थलों पर नारियों के प्रति कटूक्तियों का प्रयोग किया गया है। किन्तु जब ध्यान से उन कटूक्तियों को देखा जाता है तो ज्ञात होता है कि वे साधना-रत भिक्षुओं के प्रति संयम की रक्षा के उद्देश्य से ही कही गई है। अतः इन कटूक्तियों का निरपेक्षता से मूल्यांकन करने से यही निष्कर्ष निकलता है कि इनका सम्बन्ध सामाजिक नारियों से नहीं था। समाज में रहने वाली सदाचरण से युक्त पतिव्रता स्त्रियों की आगमों में प्रशंसा प्राप्त होती है। यह बात बौद्धागमों में वर्णित सात एवं जैनागमों में वर्णित चौदह रत्नों मे स्त्री की गणना से ही स्पष्ट हो जाती है[२]। अतः दोनों संस्कृतियों के मूल-आगम के आधार से नारी के सामाजिक-जीवन का चित्रण करना अत्यधिक समयानुकूल एवं रोचक विषय है।

दूसरी बात यह है कि आगम-कालीन नारियों का जीवन सामाजिक रीति-रिवाजों से कसा हुआ था। वे किसी भी अवस्था में क्यों न रहें, उन्हें सामाजिक रीति-रिवाजों का उचित सम्मान करना पड़ता था। उदाहरण के लिए नारी की भिक्षुणी-अवस्था को ही ले सकते हैं। भिक्षुणियाँ विधानतः सामाजिक नारियों से भिन्न थीं किन्तु उन्हें उस अवस्था में भी सामाजिक-नारियों के आचार-विचार एवं रहन-सहन का उचित सम्मान करना ही होता था। अतः यह कहना अनुचित न होगा कि आगम-कालीन समाज में नारी-जीवन का सामाजिक पहलू ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण था। प्रस्तुत प्रबन्ध में उक्त तथ्य को ध्यान में रखा गया है तथा नारी-जीवन की प्रत्येक अवस्था का चित्रण सामाजिक-दृष्टि से ही किया गया है।

---

२. (अ) दीघ निकाय १।७७
(ब) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति ३।६७

क्षेत्र—

जैसा कि पहले कहा गया है, प्रस्तुत प्रबन्ध का क्षेत्र सामान्यतया बौद्ध एवं जैन आगमों तक ही सीमित है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि जैनागमों का भाव श्वेताम्बर-सम्प्रदाय द्वारा सम्मत ४५ आगमों से है। कारण, आजकल जैनागम पद से वही आगम ग्रहण किये जाते हैं। यत्र-तत्र मूल विषय के स्पष्टीकरण के लिए टीका-साहित्य का सहारा अवश्य लेना पड़ा है किन्तु सिद्धान्ततः टीका-साहित्य प्रस्तुत ग्रन्थ के निर्धारित क्षेत्र के अन्तर्गत नहीं आता है। पूर्व-प्रसंग की दृष्टि से प्रत्येक अध्याय के प्रारम्भ में वैदिक साहित्य में उपलब्ध नारी-जीवन का संक्षिप्त परिचय भी प्रस्तुत किया गया है क्योंकि बिना पूर्व-प्रसंग के अभीष्ट विषय का समुचित प्रतिपादन करना कठिन था।

बौद्ध और जैन आगमों के संकलन की पूर्वापरता—

भगवान् महावीर एवं बुद्ध ने ईसा की लगभग पाँचवीं-छठी सदी पूर्व अपने धर्म का प्रसार लौकिक भाषा के माध्यम से किया था। उक्त दोनों महापुरुषों का निर्वाण क्रमशः ईसा के लगभग ५२६ तथा ४८० वर्ष पूर्व में हुआ था। निर्वाण के बाद उनके अनुयायियों ने उनके वचनों का संकलन एवं लेखन किया जो आज के शिक्षा-जगत् में जैनागम एवं बौद्धागम नाम से विख्यात है। चूँकि दोनों प्रकार के आगमों का मूल स्रोत उक्त महापुरुषों का उपदेश ही था, अतः आगमों में उस समय के समाज का वातावरण भी थोड़े-बहुत अंशों में चित्रित है। किन्तु यह कहना कि वे पूर्णरूप से उसी काल का चित्रण करते हैं, अनुचित होगा। कारण, बौद्धागमों एवं जैनागमों का अन्तिम संकलन-कार्य बुद्ध एवं महावीर के परिनिर्वाण के क्रमशः लगभग ५०० एवं १००० वर्ष के उपरान्त हुआ था। अतः यह स्वतः सिद्ध है कि उक्त अन्तिम संकलन-काल तक आगमों में तत्कालीन समाज का चित्र अंकित होता रहा है। उक्त तथ्य की पुष्टि बौद्ध एवं जैन आगमों में प्राप्त नारी-जीवन से की जा सकती है। बौद्धागमों से ज्ञात होता है कि पुत्री का जन्म सामरिक वातावरण के कारण समाज में उत्तम नहीं माना जाता था, कन्या का विवाह अल्पायु में भी होता था, प्रसाधन की दृष्टि से स्त्रियाँ काशी के बने वस्त्रों को अधिक पसन्द करती थीं तथा गणिकाएं वेश्याओं से भिन्न थीं एवं उनका निर्धारित शुल्क प्रतिरात्रि १०० कार्षापण तक ही था। किन्तु जैनागमों से ज्ञात होता है कि समाज में पुत्री का जन्म खेदकारक नहीं था, कन्याओं का अल्पायु में विवाह नहीं होता था। प्रसाधन की दृष्टि से स्त्रियाँ चीन के बने वस्त्रों को महत्त्व देती थीं तथा गणिका एवं वेश्या में उल्लेखनीय

भेद नहीं था अपितु सुन्दरतम वेश्या को ही गणिका की आख्या दी जाती थी एवं उसका प्रतिरात्रि का न्यूनतम शुल्क १००० (कार्षापण ?) था।

जब दोनों समकालीन महापुरुषों के उपदेशों पर आधारित मूल आगमों में प्राप्त उक्त भिन्न-भिन्न तथ्यों पर ऐतिहासिक दृष्टिपात करते हैं तो स्पष्ट होता है कि उन आगमों में से बौद्धागम ईसा पूर्व ५वीं सदी से ईसा तक के समाज का चित्र उपस्थित करते हैं तथा जैनागम ईसा की ५वीं सदी तक का। कारण, कन्या के जन्म पर खेद एवं उसका अल्पायु विवाह क्रमशः समाप्त होता गया किन्तु ईसा तक उक्त दोनों बातों का थोड़ा-बहुत अस्तित्व समाज में था। इसी प्रकार काशी के वने वस्त्र ईसा के पहले अधिक विख्यात थे किन्तु ईसा की २री सदी में चीन देश से आये रेशमी वस्त्र अधिक पसन्द किये जाने लगे थे। इसी प्रकार अन्य बातें भी पूर्वोत्तर कालसूचक ही हैं।

उक्त तथ्य को दृष्टि में रखते हुए प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रत्येक अध्याय में पहले बौद्धागमों के आधार पर नारी-जीवन का चित्र उपस्थित किया गया है, तत्पश्चात् जैनागमों से प्राप्त सामग्री का उपयोग किया गया है। इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ में बौद्ध-युग या बौद्ध-काल तथा जैन-युग या जैन-काल शब्दों का भी प्रयोग किया गया है जिनका तात्पर्य तत्-तद् आगमों के उपर्युक्त काल से ही है, अर्थात् बौद्ध-युग या बौद्ध-काल से आशय ईसा पूर्व पाँचवी सदी से लेकर ईसा तक है जब कि जैन-युग या जैन-काल का भाग ईसा की ५वीं सदी तक से है।

यहाँ इतना स्पष्ट कर देना भी आवश्यक समझता हूँ कि उक्त दोनों आगमों में जो जिस रूप में मिला उसे उसी रूप में रखा गया है। इसमें किसी प्रकार का आग्रह नहीं रखा गया है। उदाहरणस्वरूप बौद्धागमों में जो भिक्षुणी जीवन का रूप मिला उसे बौद्ध-भिक्षुणी पद से अवश्य कहा गया है किन्तु इसका यह आशय नहीं कि उस काल में जैन-भिक्षुणी-संघ था ही नहीं। इसका इतना ही तात्पर्य है कि उस काल में जैन-भिक्षुणी-संघ का क्या रूप था, यह बताने का कोई साधन नहीं है। कारण, जैनागमों में जो कुछ भी भिक्षुणी के विषय में मिलता है, वह अधिक परिष्कृत है अतः वह बौद्धागमों में वर्णित भिक्षुणी से उत्तरवर्ती काल का ही रूप है।

प्रस्तुत प्रबंध निम्नलिखित मूल बौद्ध एवं जैन आगमों पर आधारित है—

१. बौद्धागम[3] —

(क) विनयपिटक—पाराजिक, पाचित्तिय, महावग्ग, चुल्लवग्ग एवं परिवार ।

(ख) सुत्तपिटक—दीघ निकाय, मज्झिम निकाय, संयुत्त निकाय, अंगुत्तर निकाय एवं खुद्दक निकाय के पन्द्रह ग्रन्थ —खुद्दकपाठ, धम्मपद, उदान, इतिवुत्तक, सुत्तनिपात, विमानवत्थु, पेतवत्थु, थेरगाथा, थेरीगाथा, जातक, निद्देस, पटिसम्भिदामग्ग, अपदान, बुद्धवंस, चरियापिटक ।

(ग) अनुपिटक—मिलिन्दपञ्हो (मिलिन्दप्रश्न)[4]

२. जैनागम—

(क) ११ अंग—आयारंग (आचारांग), सूयगडंग (सूत्रकृतांग), ठाणांग (स्थानांग), समवायांग, विवाहपण्णत्ति (व्याख्याप्रज्ञप्ति—भगवती), नायाधम्मकहाओ (ज्ञातृधर्मकथा), उवासगदसाओ (उपासकदशा), अन्तगडदसाओ (अन्तकृद्दशा), अणुत्तरोववाइयदसाओ (अनुत्तरौपपातिकदशा), पण्हवागरणाइं (प्रश्नव्याकरण), विवागसुयं (विपाकश्रुत)

(ख) १२ उपांग—ओववाइय (औपपातिक), राइअपसेणिय (राजप्रश्नीय), जीवाभिगम, पन्नवणा (प्रज्ञापना), सुरियपण्णत्ति (सूर्यप्रज्ञप्ति), जम्बूद्दीवपण्णत्ति (जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति), चन्दपण्णत्ति (चन्द्रप्रज्ञप्ति), निरयावलियाओ (निरयावलिका), कप्पवडंसियाओ (कल्पावतंसिका), पुप्फियाओ (पुष्पिका), पुप्फचूलियाओ (पुष्पचूलिका), वण्हिदसाओ (वृष्णिदशा) ।

(ग) १० प्रकीर्णक—चउसरण (चतुःशरण), आउरपच्चक्खाण (आतुरप्रत्याख्यान), भत्तपरिण्णा (भक्तपरिज्ञा), संथारग (संस्तारक), तन्दुलवेयालिय (तंदुलवैचारिक), देविन्दत्थय (देवेन्द्रस्तव), गच्छायार (गच्छाचार), गणिविज्जा (गणिविद्या), महापच्चक्खाण (महाप्रत्याख्यान), मरणसमाही (मरणसमाधि)[5] ।

(घ) ६ छेदसूत्र—निसीह (निशीथ), महानिसीह (महानिशीथ), ववहार

---

३. यद्यपि त्रिपिटक में अभिधम्मपिटक का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है किन्तु उसमें नारी-जीवन से सम्बन्धित सामग्री उपलब्ध न होने से उसकी गणना उक्त ग्रन्थों में नहीं की गई है ।

४. यह ग्रन्थ अनुपिटक साहित्य का अवश्य है किन्तु बौद्ध एवं जैन-युग के मध्यवर्ती काल का होने के कारण उसकी गणना उक्त ग्रन्थों में की गई है ।

५. दश प्रकीर्णक कुछ परिवर्त्तनों के साथ भी गिनाये जाते हैं ।

(व्यवहार), दसासुयक्खन्ध (दशाश्रुतस्कन्ध), कप्प (कल्प अथवा बृहत्कल्प), जीयकप्प (जीतकल्प) ।

(ङ) ४ मूलसूत्र—उत्तरज्झयण (उत्तराध्ययन), दसवेयालिय[६] (दशवैकालिक), आवस्सय (आवश्यक), पिण्डनिज्जुत्ति (पिण्डनिर्युक्ति) ।

(च) २ चूलिकासूत्र—नन्दी तथा अणुओगदार (अनुयोगद्वार) ।

प्रबंध का विन्यास—

प्रस्तुत प्रबंध ६ अध्यायों में विभक्त है जिसमें नारी के बाल्य-जीवन से लेकर वृद्धावस्था तक का वर्णन किया गया है । प्रथम अध्याय में पुत्री की अवस्था का चित्रण किया गया है। पुत्री के जन्म पर होने वाली सामाजिक-प्रतिक्रिया, बचपन, विवाहसम्बन्धी दृष्टिकोण का प्रभाव, धार्मिक-प्रवृत्ति आदि विषय प्रथम अध्याय में वर्णित हैं । द्वितीय अध्याय में विवाह का वर्णन है । विवाह के विषय में परिवर्तित दृष्टिकोण एवं उनका समाज पर प्रभाव, विवाहयोग्य आयु अर्थात् वर एवं कन्या की विवाहयोग्य वय आदि इस अध्याय के मुख्य विषय हैं । तीसरे अध्याय में नारी के वैवाहिक-जीवन की चर्चा की गई है । चूँकि वैवाहिक-जीवन में नारी की अनेक अवस्थाएँ आती हैं, अतः उसे सरल एवं सुगम बनाने के लिए उक्त अध्याय को चार उप-विभागों में विभक्त किया गया है । प्रथम उपविभाग में पुत्रवधू का जीवन वर्णित हैं । द्वितीय उपविभाग में नारी की गृहपत्नी अवस्था का विवेचन किया गया है जिसमें पति-पत्नी के पारस्परिक कर्त्तव्य, पत्नी के भेद, पति-पत्नी का एक-दूसरे पर प्रभुत्व आदि विषयों का वर्णन है । तीसरे उपविभाग में जननी की महत्ता को बताते हुए उसके प्रति विनयशील होने की परम्परा का उल्लेख किया गया है । अन्तिम उपविभाग में विधवा नारी के सामाजिक, आर्थिक, एवं धार्मिक जीवन का विवेचन किया गया है ।

उक्त प्रथम तीन अध्यायों में सामाजिक नारियों का जीवन वर्णित है । चतुर्थ अध्याय में नारी के ऐसे वर्गों का वर्णन है जो अपनी आजीविका का उपार्जन स्वतः करती थीं। चूँकि इस प्रकार की नारियों में परिचारिका, गणिका एवं वेश्या वर्ग प्रमुख थे । अतः इस अध्याय को तीन उपविभागों में विभक्त कर उनमें क्रमशः उक्त तीनों वर्गों का वर्णन किया है । पंचम अध्याय में भिक्षुणी-वर्ग का

---

६. किसी के मत में ओघनिर्युक्ति भी इसमें समाविष्ट है, कोई पिण्डनिर्युक्ति के स्थान पर ओघनिर्युक्ति को मानते हैं ।

देखिए—आगम युग का जैनदर्शन, पृ० २७, टि० ४८

जीवन वर्णित है तथा षष्ठ अध्याय में नारी-सामान्य के जीवन से सम्बन्धित शिक्षा, प्रसाधन, परदा-प्रथा, व्यभिचार एवं धार्मिक-प्रवृत्तियों की अवस्था का वर्णन किया गया है। अन्तिम अध्याय में उक्त सभी अध्यायों का उपसंहार दिया गया है।

इस प्रकार इस प्रबंध में आगम-कालीन सभी प्रकार की सामाजिक, अर्ध-सामाजिक, एवं असामाजिक नारियों के जीवन का चित्र उपस्थित किया गया है। अध्यायों एवं अध्यायगत उपविभागों का क्रम श्रेणी एवं अवस्थाक्रम से विन्यस्त है। प्रथम तीन अध्यायों में सामाजिक नारियों का, चतुर्थ अध्याय में अर्ध-सामाजिक नारियों का एवं पंचम अध्याय में असामाजिक नारियों का वर्णन है। षष्ठ अध्याय में उक्त तीनों प्रकार की नारियों से सम्बन्धित सामान्य-परि-स्थितियों का विवेचन है।

शैली एवं भाषा—

इस प्रबंध में आगमों में से गवेषणा कर तत्कालीन नारी-जीवन को प्रस्तुत किय गया है। जो तथ्य जिस रूप में मिला उसे उसी रूप में इसमें दिया गया है। इसे एक प्रकार से ईसा पूर्व ५वीं सदी से ईसा की ५वीं सदी तक के नारी-जीवन का सामाजिक-इतिहास कहा जा सकता है। अतः इसमें इतिहास-लेखक की भाँति हमने तथ्यों को सजाकर प्रस्तुत किया है तथा उनकी प्रामाणिकता के लिए अधिक से अधिक मूल उद्धरणों को देने का प्रयास किया है। फलतः इसमें गवे-षणात्मक शैली अपनायी गयी है। इन तथ्यों के उचित प्रकाशन के लिए जो भाषा आवश्यक प्रतीत हुई, प्रयुक्त की गई है।

शोध-प्रबन्ध के रूप में—

प्रस्तुत ग्रन्थ काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध का मुद्रित रूप है। मेरे इस शोधकार्य की भी एक लम्बी कहानी है। सन् १९६० में एम० ए० (पालि) परीक्षा उत्तीर्ण करने के उपरान्त मैंने श्रद्धेय गुरुवर्य स्वर्गीय महापण्डित राहुल सांकृत्यायन के निर्देशन में शोध-कार्य करने का निश्चय किया था। जब मैंने अपना उक्त निश्चय पण्डितजी को, जो कि उस समय लंकास्थित विद्यालंकार विश्वविद्यालय में दर्शन-विभाग के अध्यक्ष थे, अवगत कराया तो उन्होंने अपने निर्देशन में मुझे शोध-कार्य करने की स्वीकृति देते हुए कुछ विषय सुझाये। उनमें से मैंने बौद्ध और जैन आगमों में सामाजिक-जीवन नामक विषय चुन लिया। किन्तु दुर्भाग्यवश मेरे लंका पहुँचने के पूर्व ही पण्डितजी को अस्वस्थता के कारण अचानक भारत लौट आना पड़ा। जब मैं दार्जिलिंग में पण्डितजी से मिला तो उन्होंने भारत में रहकर ही उक्त विषय पर शोध-कार्य करने का सुझाव दिया। तदनन्तर मेरे शोध-कार्य में

अवरोध सा उत्पन्न हो गया। इसके दो प्रमुख कारण थे—पालि-प्राकृत साहित्य में रुचि रखने वाले सुयोग्य निर्देशक का अभाव तथा विषय का व्यापकत्व, जिसका अनुभव मुझे सामग्री-संकलन के अवसर पर हुआ। मुझे ऐसा प्रतीत होने लगा कि पूज्य पण्डितजी के अभाव में मेरा कार्य भी अधूरा ही रह जायेगा किन्तु काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में संस्कृत-पालि विभाग के अध्यक्ष श्रद्धेय डा० सिद्धेश्वर भट्टाचार्यजी की कृपा से मैं समस्त बाधाओं को पार कर अपने लक्ष्यको प्राप्त करनेमें सफल हो सका। पूज्य डा० भट्टाचार्यजी अपने सुयोग्य निर्देशन के लिए तो विख्यात हैं ही, साथ ही आपमें अपने शिष्य-वर्ग की कठिनाइयों को समझ कर उन्हें दूर करने एवं उनमें आत्मविश्वास जाग्रत करने की भी अद्भुत क्षमता है। जब मैंने अपने विषय की व्यापकता से उत्पन्न परिस्थिति उनके सम्मुख रखी तो उन्होंने उसी विषय के किसी अंश पर शोध-कार्य करने की सलाह दी। उनकी आज्ञानुसार मैंने बौद्ध एवं जैन आगमों में नारी-जीवन पर अपना कार्य सम्पन्न किया।

आभार प्रदर्शन—

बौद्ध और जैन आगमों पर कार्य करने की मूल प्रेरणा देने वाले पूज्य स्व० महापण्डित राहुल सांकृत्यायनजी की याद ऐसे समय बर-बस आ जाती है। उनका मात्र ७ दिनों का सान्निध्य मुझे नितनवीन प्रेरणा देता रहता है। आज मैं उनकी पुण्य-स्मृति में श्रद्धा से नतमस्तक हूँ। मुझे अपने शोध-कार्य में पूज्य डा० सिद्धेश्वर भट्टाचार्यजी का बहुमूल्य निर्देशन तो प्राप्त हुआ ही है, साथ ही मेरे आज तक के व्यक्तित्व के निर्माण में उनका सदैव वरदहस्त रहा है। एतदर्थ मैं उनका चिरऋणी रहूँगा। पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान के अध्यक्ष आदरणीय डा० मोहनलाल जी मेहता के प्रति भी अपनी कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ जिनसे मैंने हर समय हर सम्भव सहायता प्राप्त की। आदरणीय बाबू नन्दकिशोर जी वकील का भी हृदय से आभारी हूँ जो मुझे शोध-कार्य में आगे बढ़ते रहने की ही प्रेरणा देते रहते हैं।

आदरणीय पं० दलसुखजी मालवणिया, (संचालक, ला० द० विद्या संस्कृति मन्दिर अहमदाबाद) के प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त करता हूँ जिन्होंने इस प्रबन्ध का परीक्षण कर अपने बहुमूल्य सुझाव दिये जिनके आधार पर मैंने प्रस्तुत ग्रन्थ में आवश्यक संशोधन किये हैं। सिद्धान्ताचार्य पं० फूलचन्द्रजी, सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्रजी एवं श्री विश्वनाथ मुखर्जी से भी प्रबन्ध के लेखन काल में पर्याप्त प्रेरणा मिली। एतदर्थ उनका भी आभारी हूँ। श्रद्धेय गुरु श्री अनोमदर्शी-

बरुआजी का भी कृतज्ञ हूँ जिनसे मैंने पालि सीखी तथा इस प्रबन्ध के लिए वर्मा-लिपि में लिखित आवश्यक अट्ठकथाओं की सहायता ली।

महावीर प्रेस के श्री भाई बाबूलाल जी फागुल्ल एवं उनके ज्येष्ठ पुत्र प्रिय महावीर ने मेरी सुविधाओं को देखकर मुद्रणकार्य में जो तत्परता दिखाई, उसके लिए वे धन्यवाद के पात्र हैं। अन्त में उन सभी गुरुजनों एवं सज्जनों को भी धन्यवाद देना मेरा कर्त्तव्य है जिन्होंने प्रकट या अप्रकट रूप से मुझे इस कार्य में सहायता दी।

यदि मेरा यह प्रयास इस विषय में रुचि रखने वाले पाठकों को आकृष्ट कर सका तो मैं अपने को कृतकृत्य समझूंगा।

कोमलचन्द्र जैन

संकेत-विवरण

अंगुत्तर० : अंगुत्तर निकाय
अनु० : अणुत्तरोववाइयदसाओ
अथर्व० : अथर्ववेद-संहिता
अन्त० : अन्तगडदसाओ
अमर० : अमरकोष
आ० ध० सू० : आपस्तम्ब-धर्मसूत्र
आचा० : आचारांगसूत्र
उद्ध० : उद्धरण
उत्तर० उत्तरा० : उत्तराध्ययनसूत्र
उदा० : उदान
उपा० : उपासकदशांग
ऋग्वेद० : ऋग्वेद-संहिता
ऐ० ब्रा० : ऐतरेय-ब्राह्मण
औ० सू० : औपपातिक-सूत्र
कल्प० : कल्पसूत्र
काम० : कामसूत्र
खुद्दक० : खुद्दकपाठ
गो० गृ० सू० : गोभिल-गृह्यसूत्र
चुल्ल० : चुल्लवग्ग
छान्दो० : छान्दोग्य-उपनिषद्
जम्बू० : जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति
जा० : जातक (अनुवादक-कावेल)
जा० क० : जातकट्ठकथा (ज्ञानपीठ)
जातकट्ठ० : जातक, अट्ठकथा के साथ; (रोमनलिपि)
जाबा० : जाबाल्युपनिषद्
जी० क० : जीतकल्प
ज्ञाता० वि० : ज्ञाताधर्मकथाङ्ग (विवरण)
तै० ब्रा० : तैत्तिरीय-ब्राह्मण
तै० स० : तैत्तिरीय-संहिता
थेर० : थेरगाथा
थेर० (हि०) : थेरगाथा (हिन्दी-अनुवाद)
थेरी० : थेरीगाथा
थेरीअप० : थेरीअपदान
दशा० : दशाश्रुतस्कन्ध
दीघ० : दीघ निकाय
धम्म० : धम्मपद
नाम० : नाममाला
नाया० : नायाधम्मकहाओ
नि० गाथा : निशीथगाथा
निरया० : निरयावलियाओ
पा० गृ० सू० : पाराशर-गृह्य-सूत्र
प० स्मृ० : पराशर-स्मृति
पाइअ० : पाइअसद्दमहण्णवो
पाचि० : पाचित्तिय
पारा० : पाराजिक
पि० नि० : पिण्डनिर्युक्ति
पेत० : पेतवत्थु
बृह० : बृहत्कल्पभाष्य
बृहदा० : बृहदारण्यक-उपनिषद्
बौ० ध० सू० : बौधायन-धर्मसूत्र
बौ० स्मृ० : बौधायन-स्मृति

मज्झिम०	: मज्झिम निकाय	संयुत्त०	: संयुत्त निकाय
मनु०	: मनुस्मृति	सम०	: समन्तपासादिका (नालन्दा)
महा०	: महाभारत	सुम०	: सुमंगलविलासिनी
महाव०	: महावग्ग	सू० टी०	: सूत्रकृतांग टीका
रघु०	: रघुवंश	सू०	: सूत्र
रामा०	: रामायण	सूय०	: सूयगडं
राय०	: रायपसेणइयसुत्त	स्था०	: स्थानांग-सूत्र
व० ध० सू०	: वशिष्ठ-धर्मसूत्र	B. D.	: Buddhist Discipline
व० स्मृ०	: वशिष्ठ-स्मृति		
वव०	: ववहारसुत्त	E. R.E.	: Encyclopaedia of Religion and Ethics
वि० अ०	: विनयट्ठकथा, समन्तपासादिका (रोमन लिपि)		
विमा०	: विमानवत्थु		
विवाग०	: विवागसुयं	P. E. D.	: Pali-English Dictionary
विष्णुस्मृ०	: विष्णुस्मृति		
व्यासस्मृ०	: वेदव्यासस्मृति	S. E. D.	: Sanskrit-English Dictionary
श०ब्रा०,शत०ब्रा०	: शतपथ-ब्राह्मण		

प्रस्तुत ग्रन्थ में

बौद्ध और जैन आगमों में नारी-जीवन

पुत्री

वैदिक-कालीन स्थिति
उत्तर-वैदिक-कालीन स्थिति
आगम-कालीन स्थिति
बाल्यावस्था
कुलीनता एवं सदाचार
माता-पिता एवं पुत्री
भाई-बहिन
ननद-भाभी
पैतृक सम्पत्ति का अधिकार
धार्मिक स्थिति
उत्सव
वर्षगांठ
चातुर्मासिक स्नान
शिक्षा

●

: १ : पुत्री

पुत्री नारी-जीवन की प्रथम अवस्था है। पुत्री के रूप में ही नारी समाज में प्रवेश करती है। अतः यह स्वाभाविक है कि समाज में वर्तमान नारी की उन्नत या अवनत अवस्था से पुत्री-वर्ग सर्वाधिक प्रभावित रहे। पुत्री के जन्म पर होनेवाली सामाजिक प्रतिक्रिया मात्र ही नारी-जीवन पर पर्याप्त प्रकाश डाल देती है। पुत्री के जीवनयापन का ढंग एवं उसके प्रति किये गये सामाजिक व्यवहार नारी-जीवन की सभी अवस्थाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। अतः नारी-जीवन के अध्ययन के लिए पुत्री के जीवन का ज्ञान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है।

वैदिक-कालीन स्थिति :

वैदिक-काल में पुत्री के जन्म पर होनेवाली प्रतिक्रिया की जानकारी प्राप्त नहीं होती है, परन्तु इतना अवश्य ज्ञात होता है कि वेदों में पुरुष-सन्तान के लिए विशेष कामनाएं की गई हैं।[1] वैवाहिक आशीर्वाद में नवदम्पति को जीवनभर पुत्र-पौत्रों के साथ खेलने को कहा गया है।[2] उस समय पत्नी से यह अपेक्षा की जाती थी कि वह उत्तम तथा वीर पुत्रों को जन्म देनेवाली हो।[3] अथर्ववेद में भी वीर पुत्र की उत्पत्ति के हेतु प्रार्थनाएं उपलब्ध होती हैं।[4] यद्यपि वेदों में कन्या की प्राप्ति के लिए कामनाएं दृष्टिगोचर नहीं होती हैं, किन्तु साथ ही उसके प्रति निन्दा के भाव का भी आभास नहीं मिलता है। अतः

---

१. Women in the Vedic Age, p. 2.

२. क्रीळन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे —ऋग्वेद० १० । ८५ । ४२

३. सुपुत्रा सुभगासति —वही, १० । ८५ । २५

४. आते योनिं गर्भ एतु पुमान्बाण इवेषुधिम् ।
आ वीरोऽत्र जायतां पुत्रस्ते दशमास्यः ॥
—अथर्व० ३ । २३ । २ एवं ३ । २३ । ३-६

यह माना जा सकता है कि वैदिक-काल में पुत्री की अवस्था दयनीय नहीं थी। प्रकारान्तर से यह कह सकते हैं कि वैदिक-युग में पुत्री की दशा शोचनीय नहीं थी किन्तु उसकी प्राप्ति उतनी प्रिय नहीं होती थी जितनी की पुत्र को।[५]

वैदिक साहित्य में उपलब्ध पुत्र-प्राप्ति की उत्कट कामना का प्रमुख कारण तत्कालीन समाज में व्याप्त सामरिक वातावरण था। आर्य लोग युद्ध में पूर्णतः उलझे हुए थे। वे जहाँ कहीं भी जाते थे, उन्हें वहाँ युद्ध करना पड़ता था। आर्यों का सामना अनार्यों ने बड़ी वीरता से किया था किन्तु अन्त में अनार्यों को पराजित होना पड़ा।[६] चूँकि आर्य लोग बाहर से आये थे अतः इस देश की भूमि पर अधिकार करने के लिए उन्हें युद्ध का सहारा लेना पड़ा। योद्धा के रूप में आने वाले आर्य लोग नित्य नवीन विजय की अभिलाषा करते थे, तथा अपने लक्ष्य की सिद्धि के निमित्त वे वीर पुत्रों की प्राप्ति के लिए प्रार्थनाएँ करते थे।[७]

सामरिक दृष्टि को छोड़कर शेष सभी दृष्टियों से पुत्री की अवस्था उन्नत थी। तत्कालीन शिक्षा का द्वार लड़कों के समान लड़कियों के लिए भी खुला था।[८] विवाह के पूर्व युवती, युवक से स्वतन्त्रतापूर्वक मिलती थी तथा प्रेमालाप करती थी। कतिपय युवतियाँ अपने सौन्दर्य से फूली नहीं समाती थीं।[९] उस समय अविवाहित रह जाना कन्याओं के लिए लज्जास्पद नहीं था। वेदों में ऐसी अविवाहित कन्याओं के अनेक दृष्टान्त मिलते हैं जिन्होंने अपने पिता के घर में ही रहकर वार्द्धक्य प्राप्त किया।[१०]

---

५. Women in the Vedic Age, p. 2.

६. हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता, पृ० ३६.

७. हिन्दू संस्कार, पृ० ८२.

८. प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति, पृ० १५५.

९. हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता, पृ० ५०

१०. हिन्दू संस्कार, पृ० २३४

उत्तर-वैदिक-कालीन स्थिति :

ब्राह्मण-काल में पुत्र-प्राप्ति को धार्मिक महत्त्व दिया जाने लगा। ऋण-मुक्ति के सिद्धान्त ने पुत्र-प्राप्ति को पितृ-ऋण से मुक्त होने के लिए धार्मिक दृष्टि से आवश्यक बना दिया। शतपथ-ब्राह्मण में कहा गया है कि उत्पन्न होते ही मनुष्य देवताओं, ऋषियों, पितरों तथा मनुष्यों का ऋणी होता है।[११] तैत्तिरीय-संहिता के अनुसार मनुष्य ब्रह्मचर्य, यज्ञ तथा प्रजा द्वारा क्रमशः ऋषि, देव तथा पितृ-ऋणों से मुक्त होता है।[१२]

सूत्र-साहित्य में पुत्र के धार्मिक महत्त्व को नानारूप से वर्णित किया गया है। अनेक ग्रन्थों में उपलब्ध एक श्लोक में कहा गया है कि पुरुष पुत्र से विविध लोकों की विजय करता है, पौत्र से उन लोकों का अनन्त काल तक उपभोग करता है तथा पुत्र के पौत्र से आदित्य लोक को प्राप्त करता है।[१३] इसके अतिरिक्त अन्य दो धार्मिक विश्वासों के आधार पर भी पुत्र-प्राप्ति पारलौकिक शान्ति के लिए आवश्यक बतलाई गई है। प्रथम कारण यह कि पुत्र, पिता को पुन्

---

११. ऋणं ह वै जायते योऽस्ति। स जायमान एव देवेभ्य ऋषिभ्यः पितृभ्यो मनुष्येभ्यः ।

—शत० ब्रा० १।७।२।१

१२. जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवा जायते ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्य एष वा अनृणो य पुत्री यज्वा ब्रह्मचारिवासी।

—तै० सं० ६।३।१०।५

तुलना कीजिए—

अथ यदेव प्रजामिच्छेत। तेन पितृभ्यऽऋणं जायते।

—शत० ब्रा० १।७।२।४

१३. पुत्रेण लोकाञ्जयति पौत्रेणानन्त्यमश्नुते।

अथ पुत्रस्य पौत्रेण ब्रध्नस्याप्नोति विष्टपम् ॥

—बौ० ध० सू० २।९।६, व. ध. सू १७।५

विष्णुस्मृ० १५।४६.

नामक नरक से बचाता है[१४] तथा द्वितीय यह कि पितरों की आत्माएँ पुत्रों से पिण्ड एवं जल का तर्पण पाकर सुखी एवं सन्तुष्ट रहती हैं।[१५]

पुत्र के उक्त धार्मिक महत्त्व से पुत्री उपेक्षा की पात्र बन गई। रामायण में पुत्री को कष्टदायिनी बताया गया है।[१६] महाभारत में तो कन्या को कष्ट का साकार रूप ही कहा गया है।[१७] कन्या के विषय में इस प्रकार के भाव ऐतरेय-ब्राह्मण-काल से ही उदित होने लगे थे।[१८] कन्या को कष्टरूप मानने का प्रमुख कारण यह था कि उत्तर-वैदिक-काल के अन्त में कन्याओं के जीवन का एक मात्र उद्देश्य विवाहित हो जाना हो गया था। इतना ही नहीं, अपितु कन्याओं के विवाह के हेतु बड़े ही कड़े नियम भी बनाये गये थे। बौधायन धर्मसूत्र में कहा गया है कि मासिक-धर्म को प्राप्त कन्या का तीन वर्ष तक विवाह न करने से कन्या के माता-पिता या संरक्षकवर्ग भ्रूणहत्या के दोषी होते हैं।[१९] पराशर के अनुसार १२ वर्ष की आयु तक कन्या का विवाह न करने से उसके पितर प्रत्येक माह में गिरनेवाले रक्त को पीते हैं।[२०] महाभारत में परिपक्वावस्था को प्राप्त कन्या का विवाह न करनेवाले को ब्रह्महत्या का दोषी

---

१४. पुन्नाम्नो नरकाद्यस्मात्पितरं त्रायते सुतः ।
तस्मात् पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयंभुवा ॥ —विष्णुस्मृ० १५ । ४४

१५. एष्टव्या बहवः पुत्राः गुणवन्तो बहुश्रुताः ।
तेषां वै समवेतानामपि कश्चिद् गयां व्रजेत् ॥ —रामा० २ । १०७ । १३

१६. कन्यापितृत्वं दुःखं हि सर्वेषां मानकाङ्क्षिणाम् ।
न ज्ञायते च कः कन्यां वरयेदिति कन्यके ॥ —वही, ७ । ९ । ६

१७. आत्मा पुत्रः सखा भार्या कृच्छ्रं तु दुहिता किल ।—महा० १ । १५९ । ११

१८. सखा ह जाया कृपणं ह दुहिता.... —ऐ० ब्रा० ३३ । १

१९. त्रीणि वर्षाण्यृतुमतीं यः कन्यां न प्रयच्छति ।
स तुल्यं भ्रूणहत्यायै दोषमृच्छत्यसंशयम् ॥ —बौ० ध० सू० ४ । १ । १३

२०. प्राप्ते तु द्वादशे वर्षे यः कन्यां न प्रयच्छति ।
मासि मासि रजस्तस्याः पिबन्ति पितरोऽनिशम् ॥ —प० स्मृ० ७ । ५

बताया गया है।[२१] फलस्वरूप संरक्षकवर्ग के लिए कन्या का विवाह अत्यन्त कष्टदायक समस्या बन गई थी। उक्त विवाहसम्बन्धी नियमों के कारण कन्या का विवाह करने के पूर्व संरक्षकवर्ग को अपनी पुत्री के भविष्य की ओर ध्यान देने का पर्याप्त अवसर नहीं मिलता था। यही कारण था कि विवाह के अवसर पर कन्या का मातृकुल, पितृकुल तथा पतिकुल तीनों ही संशयापन्न हो जाते थे।[२२]

इस प्रकार बौद्धागमों के काल तक वैदिक-परम्परा के अनुयायियों की दृष्टि में पुत्र एवं पुत्री के बीच पर्याप्त भेद हो गया था। एक ओर यदि व्यक्ति पुत्र-प्राप्ति से इहलोक तथा परलोक के प्रति निश्चिन्त हो जाता था तो दूसरी ओर वही व्यक्ति पुत्री के होने पर उसके विवाहसम्बन्धी गुरुतर उत्तरदायित्व से ग्रस्त भी हो जाता था। इसके अतिरिक्त पुत्र यदि परिवार के लिए सहायक होता था तो पुत्री विवाह के अवसर पर माता-पिता का धन लेकर सदा के लिए पराई हो जाती थी।[२३] इसी से जनसाधारण में पुत्र-प्राप्ति की सहज लालसा रहती थी। गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन एवं जातकर्म नामक संस्कारों के मूल में भी उसी लालसा के भाव निहित रहते थे।[२४]

---

२१. आत्मजां रूपसम्पन्नां महतीं सदृशे वरे।
न प्रयच्छति यः कन्यां तं विद्याद् ब्रह्मघातिनम्॥

—महा० १३। २४। ९

२२. मातुः कुलं पितृकुलं यत्र चैव प्रदीयते।
कुलत्रयं सदा कन्या संशये स्थाप्य तिष्ठति॥

—रामा० ७। ९। १०

तुलना कीजिए—महा०, ५। ९७। १६ से

२३. संभवे स्वजनदुःखकारिका सम्प्रदानसमयेऽर्थहारिका।
यौवनेऽपि बहुदोषकारिका दारिका हृदयदारिका पितुः॥

—ऐ० ब्रा० ३३। १ का भाष्य

२४. अथर्व०, ३। २३। ३, ब० स्मृ० १७। १, गो० गृ० सू० २। ६। ६–१२ तथा २। ७। १५–१८
तुलना कीजिए

The whole of the pumsavana ceremony and the

बौद्धागम संयुत्तनिकाय में उपलब्ध एक घटना उस समय पुत्री के जन्म पर होनेवाली प्रतिक्रिया को व्यक्त करती है। घटना इस प्रकार है—एकबार कोसलनरेश प्रसेनजित् भगवान् बुद्ध के पास जाता है। उसी समय एक व्यक्ति उसे यह सन्देश देता है कि रानी मल्लिका ने पुत्री को जन्म दिया है। यह समाचार प्रसेनजित् के मन को खिन्न कर देता है।[२५] किन्तु भगवान् बुद्ध उसे सान्त्वना देते हुए कहते हैं कि कतिपय स्त्रियाँ भी बुद्धिमती, शीलवती, पतिव्रता एवं सास को सेवा में तत्पर हुआ करती हैं। इतना ही नहीं प्रत्युत उनसे उत्पन्न पुत्र दिशाओं को जीतनेवाला वीर होता है तथा राज्य के सुसंचालन में कुशल होता है। इसलिए हे राजन्! आप का यह कर्त्तव्य है कि उसका समुचित पालन करें।[२६]

---

mantras recited at the Garbhadhana ceremony reveal the keen desire of the ancient Aryans for male progeny. The implements used and the naksatras selected for the simantonnayana ceremony were to be of his male category. The object being mainly and evidently to secure the birth of a male child. ····From the description of the Jatakarma ceremony it is clear that it takes it for granted that a son has been born.

—Women in Manu and his Seven Commentators, pp. 44-45.

२५. अथ खो अञ्ञतरो पुरिसो····रञ्ञो पसेनदिस्स कोसलस्स उपकण्णके आरोचेसि—"मल्लिका, देव, देवी धीतरं विजाता" ति। एवं वुत्ते, राजा पसेनदि कोसलो अनत्तमनो अहोसि। —संयुत्त० १।८५

२६. इत्थी पि हि एकच्चिया, सेय्या पोस जनाधिप।
मेधाविनो सीलवती, सस्सुदेवा पतिब्बता॥
तस्सा यो जायति पोसो, सूरो होति दिसम्पति।
तादिसा सुभगिया पुत्तो रज्जं पि अनुसासती'ति॥ —वही

उपर्युक्त घटना से दो बातें स्पष्ट होती हैं। प्रथम यह कि वैदिक-परम्परा के अनुयायियों में व्याप्त पुत्री के जन्म पर असन्तोष की भावना बुद्ध के समय तक अविच्छिन्नरूप से चली आई थी जिसके मूल में प्रमुख कारण सामरिक दृष्टिकोण था तथा द्वितीय यह कि पुत्र एवं पुत्री में इस प्रकार की भेदभावभरी नीति का भगवान् बुद्ध ने विरोध किया था। उन्होंने बतलाया कि जिस सामरिक दृष्टि के कारण पुत्र को महत्त्व दिया जाता है उसका अस्तित्व परोक्षरूप से पुत्री में भी विद्यमान है।

आगम-कालीन स्थिति :

श्रमण-संस्कृति के विकास के साथ पुत्र एवं पुत्री के प्रति क्रमशः स्नेह एवं घृणासूचक भाव समाप्त होने लगे। बुद्ध तथा महावीर दोनों ने ही एक ओर तो पुत्र को महत्त्व प्रदान करनेवाले कारणों को मान्यता नहीं दी तथा दूसरी ओर कन्याओं में स्वाभिमान एवं स्वावलम्बन की भावना उत्पन्न करने वाले सिद्धान्तों का प्रसार किया।

आगमों में पुत्र को किसी भी प्रकार का धार्मिक महत्त्व नहीं दिया गया है। उनमें ऋण-सिद्धान्त के अस्तित्व का कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता है। अतः स्पष्ट है कि दोनों (बौद्ध एवं जैन) ही सम्प्रदायों में, पितृ-ऋण से मुक्ति पाने के लिए पुत्र-प्राप्ति आवश्यक है—इस बात की उपेक्षा की गई है। आगम-साहित्य में पुत्र के महत्त्व की भावना से परिपूर्ण गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन एवं जातकर्म नामक संस्कारों का भी उल्लेख उपलब्ध नहीं होता है। इसी प्रकार उन (आगमों) में न तो पुत्र के द्वारा पिता की पुन् नामक नरक से रक्षा करने की चर्चा है और न ही पिण्ड एवं जल के तर्पण का ही उल्लेख है।

तथ्य यह है कि धार्मिक उत्कर्ष को प्राप्त करने के लिए दोनों ही सम्प्रदायों में गृहावास को छोड़कर अनगारावस्था में शुद्ध ब्रह्मचर्य के पालन पर ही जोर दिया गया है। अनगारावस्था में मैथुन ऐसा

भयंकर अधार्मिक कृत्य बताया गया है कि जिसे करके बौद्ध-भिक्षु पाराजिक तथा जैन मुनि मूल प्रायश्चित्त के योग्य दोष से दूषित हो जाता है।[२७] अतः वे धार्मिक उत्कर्ष की प्राप्ति के लिए अपनी स्त्री से पुत्र उत्पन्न कर उभयलोक सुधारने के सिद्धान्त की कल्पना सेभी दूर रहते थे। तात्पर्य यह कि वैदिक-संस्कृति में उपलब्ध पुत्र का धार्मिक महत्त्व श्रमण-संस्कृति में लुप्त हो गया।

बौद्ध तथा जैन-आगमों में कन्या के विवाह के विषय में आग्रह-सूचक नियमों का सर्वथा अभाव है। ऐसी कन्याओं के माता-पिता जो अपनी पुत्री का विवाह करने में असमर्थ रहते थे, धार्मिक दृष्टि से भयभीत नहीं हुआ करते थे। कन्याएँ भी विवाह करने, न करने के विषय में अपने को स्वतन्त्र समझने लगी थीं तथा आजन्म अविवाहित रहने में किसी भी सामाजिक आक्षेप का अनुभव नहीं करती थीं।[२८] फलस्वरूप विवाह के पूर्व यह आवश्यक हो गया था कि पिता पुत्री से उसके विवाह की स्वीकृति ले।[२९] कभी-कभी भावी पति भी कन्या से विवाहसम्बन्धी स्वीकृति लेने आता था।[३०] पुत्री पिता या

---

२७. (क) "यो पन भिक्खु मेथुनं धम्मं पटिसेवेय्य' अन्तमसो तिरच्छानगताय पि पाराजिको होति असं वासो" ति। —पारा० पृ० २८

(ख) आउट्टियाय पंचिंदियघाते मेहुणे य दप्पेणं। —जी० क० ८३

२८. A woman no longer felt bound to marry to save her self-respect and that of her family, but, on the contrary, found that she could honourably remain unmarried without running the gauntlet of public scorn.
—Women under Primitive Buddhism, p. 25

२९. उठ्ठेहि पुत्तक! किं सोचितेन दिन्नासि वारणवतिम्हि।
राजा अनीकरत्तो अभिरूपो तस्स त्वं दिन्ना॥
—थेरी० १६।१।४६४

३०. ....अनीकरत्तो च आरुह्नी तुरितं।
मणिकनकभूसितङ्गो कतञ्जली याचति सुमधं॥
—वही, १६।१।४८४

अन्य किसी व्यक्ति से प्राप्त विवाह के प्रस्ताव या सुझाव को स्वीकार या अस्वीकार करने में पूर्ण स्वतन्त्र थी। कभी कभी माता-पिता के अत्यधिक अनुरोध के बावजूद भी कन्याएँ अपने विवाहसम्बन्धी प्रस्ताव को दृढ़ता के साथ अस्वीकार कर प्रव्रजित हो जाया करती थीं।[31] ऐसी कन्याएँ प्रायः भिक्षुणी बन जाती थीं। उनका भिक्षुणी बनने का प्रमुख उद्देश्य धर्म एवं दर्शन के सत्यों का ज्ञान प्राप्त कर मुक्ति पाना था। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि बौद्ध-युग में पुत्री की अवस्था इतनी विकसित नहीं हो पाई थी कि किसी कारण विशेष से आजन्म अविवाहित रहनेवाली कन्या को पिता के घर पारिवारिक जीवन बिताने की सुविधा मिल सके।[32] जैन-युग तक उक्त परिस्थिति में सुधार हुआ। परिणामस्वरूप ऐसी कन्याएँ, जिनका विवाह शारीरिक सौन्दर्याभाव या अन्य किसी कारण से नहीं हो पाता था,[33] ससम्मान पिता के घर रहा करती थीं।[34] वे माता-पिता की अनुमति-

---

३१. अथ ते भणति सुमेधा मा एदिसिकानि भवगतमसारं।
पब्बज्जा वा होहिति मरणं वा मे न चेव वारेय्यं॥

—वही, १६।१।४६७।

३२. (a) Now, on the day when she was to choose among her suitors, Carabhuta, her young Sakiyan kinsman, died. Then her parents made her leave the world against her will.

—Psalms of the Sisters, p. 22

(b) It would appear that Carabhuta would have been the object of her choice.

— Ibid, note 2.

३३. ....काली नामं दारिया होत्था वड्डा वड्डकुमारी जुण्णा जुण्णकुमारी पडियपुयत्थणी निव्विण्णवरा वरपरिवज्जिया वि होत्था।

—नाया० २।१।१५१

३४. तं मा णं तुमं पुत्ता! ओहयमणसंकप्पा जाव झियाहि। तुमं णं पुत्ता! मम महाणसंसि विपुलं असणं....जाव परिभाएमाणी विहराहि।

—वही, १।१६।११८

पूर्वक तभी प्रव्रज्या लेती थीं जब उनका चित्त सांसारिक जीवन से स्वयमेव विरक्त हो जाता था ।[३५]

पुत्र-पुत्रीविषयक इन परिवर्तित परिस्थितियों का प्रभाव उनके माता-पिता तथा संरक्षकवर्ग के ऊपर पड़ा। परिणामस्वरूप वे कन्या के विवाहसम्बन्धी गुरुतर उत्तरदायित्व से निरातंकित रहने लगे। विवाह के विषय में कन्या को मिली स्वतंत्रता के कारण उनमें स्वावलम्बन एवं आत्मनिर्णय की बुद्धि जागृत हुई। अब कन्याएँ अपनी इच्छा के अनुरूप पति प्राप्त करने के लिए अपना मत व्यक्त करने लगीं।[३६] जैन-युग में तो कभी-कभी माता-पिता कन्या के भावी जीवन के सुख को ध्यान में रखकर स्वयंवर द्वारा उसे ही वर-चयन का पूर्ण अधिकार दे देते थे।[३७]

इस प्रकार आगम-युग में एक ओर पुत्र-प्राप्ति के धार्मिक महत्व की समाप्ति हो गई, तथा दूसरी ओर पुत्री के प्रति निभाये जानेवाले विवाह-सम्बन्धी गुरुतर उत्तरदायित्व से उत्पन्न आतंक जाता रहा। फलतः आगमों में पुत्र-पुत्री का भेदभाव अदृश्य हो गया। यद्यपि आगमों में भी सन्तान-कामना दृष्टिगोचर होती है किन्तु संतान पद से पुत्र-विशेष का भाव परिलक्षित नहीं होता है।

बौद्धागमों में 'पुत्ता' शब्द उपलब्ध होता है जिसका अभिप्राय

---

३५ तए णं अहं अम्मयाओ! संसारभउव्विग्गा भीया जम्मणमरणाणं इच्छामि णं तुब्भेहिं अब्भुन्नाया समाणी....पव्वइत्तए। अहासुहं देवाणुप्पिए। मा पडिबंधं करेहि।

—वही, २।१।१५१

३६. Women under Primitive Buddhism, p. 29.

३७. जस्स णं अहं तुमं पुत्ता! रायस्स वा जुवरायस्स वा भारियत्ताए सयमेव दलइस्सामि तत्थ णं तुमं सुहिया वा दुहिया वा भवेज्जासि। तए णं मम जावज्जीवाए हिययदाहे भविस्सइ। तं णं अहं तव पुत्ता! अज्जयाए सयंवरं वियरामि। अज्जयाए णं तुमं दिन्नं सयंवरा।

—नाया०, १।१६।१२१

बिना किसी लिगभेद के सन्तानमात्र से है।[38] जैनागमों में स्त्रियों को अपने इष्ट देवताओं से पुत्र या पुत्री की कामना करते हुए पाते हैं। इस प्रकार की कामनाओं में 'दारगं वा दारियं वा' वाक्यांश प्रयुक्त हुआ है।[39] कहने का आशय यह कि आगम-युग में बिना किसी भेद के सन्तान ही मनुष्यों की कामना का विषय बन गई।

बौद्धागमों में उत्तरोत्तर कन्या का महत्त्व वृद्धिगत दृष्टिगोचर होता है। उत्तर-कालीन ग्रन्थों में मनुष्यों को कन्या के जन्म पर हर्षित होते पाते हैं। थेरीगाथा के अनुसार उब्बिरी अपनी कन्या की मृत्यु पर अत्यधिक दुःखी होती है।[40] अट्ठकथा के अनुसार उब्बिरी अत्यन्त सुन्दरी थी। अतः उसे कोसलराज के अंतःपुर में स्थान मिला था। कुछ वर्षों में उसके एक कन्या हुई जिसकी सुन्दरता से हर्षित होकर राजा ने उब्बिरी को सम्मानित किया। कुछ दिनों के बाद ही उसकी कन्या मर गई। अपनी कन्या की मृत्यु से विक्षिप्त उब्बिरी उस स्थल

---

३८. (क) नन्दति पुत्तेहि पुत्तिमा।

—संयुत्त०, १।७

(ख) पुत्तद रस्स अत्थाय हिताय सुखाय होति।

—अंगुत्तर०, २।३१२

(ग) पुत्ता च मे समानिया अरोगा।

—सुत्तनिपात, १।२।२४

३९. (क) कहं णं तुमं दारगं वा दारियं वा पयाएज्जासि।

—नाया०, १।२।४०

(ख) जइ णं अहं, देवाणुप्पिया, दारगं वा दारियं वा पयामि....

—विवाग० १।७।१३७

(ग) नो चेव णं दारगं वा दारियं वा पयायामि।

—निरया०, ३।११६

४०. अब्बही वत मे सल्लं, दुद्दसं हदय निस्सितं।
यं मे सोकपरेताय, धीतुसोकं व्यपानुदि॥

—थेरी०, ३।५।५२।

पर जाकर विलाप किया करती थी जहाँ उसकी मृत कन्या का पार्थिव शरीर गाड़ा गया था।[४१]

जैनागमों में भी कन्या का बढ़ता हुआ महत्त्व दृष्टिगत होता है। कन्या में निहित सुन्दरता के कारण उसके माता-पिता सहज ही में राजा या राजपरिवार के सम्बन्धी बन जाते थे। पोट्टिला एक सुनार की कन्या थी जिसकी सुन्दरता पर आसक्त होकर अमात्य तेतलिपुत्र ने उसके पिता के पास आतमीयों द्वारा विवाह-प्रस्ताव भेजा था।[४२] कृष्ण वासुदेव ने ब्राह्मण-कन्या सोमा की सुन्दरता पर मुग्ध होकर अपने छोटे भाई की पत्नी बनाने के उद्देश्य से उसे बुलवाकर अपने कन्यान्तःपुर में रख लिया था।[४३] इसी प्रकार दत्त सार्थवाह की कन्या देवदत्ता भी वैश्रमण राजा द्वारा युवराज पुष्पनन्दी की पत्नी बनाने के हेतु बुलवा ली गई थी।[४४]

---

४१. उब्बरी'ति नाम अभिरूपा दस्सनीया अहोसि। सा वयप्पत्तकाले कोसलरञ्ञो अत्तनो गेहे नीता कतिपय संवच्छरातिक्कमेन एकं धीतरं लभि। राजा तस्सा धीतरं दिस्वा तुट्ठमानसो उब्बिरिया अभिसेकं अदासि। धीता पन अस्सा....कालं अकासि। माता यत्थ तस्सा सरीरनिक्खेपो कतो तं सुसानं गन्त्वा दिवसे दिवसे परिदेवेसि।

—परमत्थदीपिनी (थेरी० की अट्ठकथा) पृ० ५३-५४

४२. तए णं से तेयलिपुत्ते अमच्चे...पोट्टिलाए दारियाए रूवे य जाव अज्झोववन्ने....अब्भितरठाणिज्जे पुरिसे...एवं वयासी—गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया! ....पोट्टिलं दारियं मम भारियत्ताए वरेह।

—नाया०, १।१४।१०१

४३. तए णं से कण्हे वासुदेवे....सोमाए दारियाए रूवेण य....विम्हिए.... कोडुम्बियपुरिसे एवं वयासी—"गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया!....सोमं दारियं गेण्हह, २ कन्नन्तेउरंसि-पक्खिवह। तए णं एसा गयसुकुमालस्स कुमारस्स भारिया भविस्सइ।

—अंत०, ३।८।४८-४९

४४. गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया!...देवदत्तं दारियं पूसनन्दिस्स जुवरन्नो भारियत्ताए वरेह....

—विवाग०, १।९।१७६

उस समय सुन्दर कन्याएँ तो सम्मान की पात्र बन गई थीं। विवाह के अवसर पर उनके माता-पिता भावी जामाता से अपनी कन्या का शुल्क ले लिया करते थे। ऋषिदासी का पिता उसका दो बार विवाह करता है और दोनों ही बार कन्या के बदले में धन लेता है।[४५] कभी-कभी सुन्दर कन्या से विवाह करने के इच्छुक व्यक्ति उसके पिता से उसके शुल्क के विषय में पूछते थे या स्वयं प्रचुर धनराशि शुल्क के रूप में देने की इच्छा व्यक्त करते थे।[४६] श्रेष्ठिपुत्री अनुपमा के साथ विवाह करने को लालायित अनेक राजकुमार एवं श्रेष्ठिपुत्रों द्वारा उसके पिता के पास उसके बदले में बहुत-सा धन देने के प्रतिस्पर्द्धात्मक प्रस्ताव भेजे गये।[४७] मिलिन्दपञ्ह में भी धन देकर कन्या को पत्नी के रूपमें लेने का उल्लेख आता है![४८] ऋण के भुगतान के रूप में भी कन्या को लेने का उल्लेख मिलता है।[४९] जैनागमों में तो कन्या के विषय

४५. अथ मं अदासि तातो, अड्ढस्स घरम्हि दुतियकुलिकस्स।
ततो उपड्ढसुक्केन, येन मं विन्दथ सेट्ठि॥

—थेरी० १५।१।४२२

४६. तो भण देवाणुप्पिया! किं दलामो सुक्कं?

—नाया० १।१४।१०१

४७. पत्थिता राजपुत्तेहि, सेट्ठिपुत्तेहि गिज्झिता।
पितु मे पेसयी दूतं, देथ मय्हं अनोपमं॥
यत्तकं तुलिता एसा, तुय्हं धीता अनोपमा।
ततो अट्ठगुणं दस्सं, हिरञ्ञं रतनानि च॥

—थेरी० ६।५।१५२-१५३

४८. यथा महाराज, कोचिदे'व पुरिसो दहरिं दारिकं वारेत्वा सुक्कं दत्वा पक्कमेय्य। सा अपरेन समयेन महती अस्स वयप्पत्ता, ततो अञ्ञो सुक्कं दत्वा विवाहं करेय्य....

—मिलिन्दपञ्हो २।२

४९. तं मं ततो सत्थवाहो उस्सन्नाय विपुलायवड्ढिया।
ओकड्ढति विलपन्तिं अच्छिन्दित्वा कुलघरस्मा॥

—थेरी० १५।१।४४६

में उसके पिता के पास आनेवाले विवाह-प्रस्तावों में कन्या-शुल्क की चर्चा प्रायः पाई जाती है।[५०]

कहने का तात्पर्य यह कि उत्तर-बौद्ध-युग एवं जैन-युग में पुत्री का जन्म विषाद का विषय नहीं रह गया था प्रत्युत कुछ लोगों के लिए हर्ष का विषय बन गया था। अपनी सुन्दर कन्या के कारण साधारण हैसियत का व्यक्ति भी राजा का सम्बन्धी बन जाता था, ऋण का भुगतान कर लेता था तथा आवश्यकता पड़ने पर किसी सम्पन्न व्यक्ति के साथ कन्या का विवाह कर उससे अच्छी रकम भी ऐंठ लेता था। इस प्रकार सामान्य परिवार के मनुष्य सुंदर कन्या के जन्म पर गौरव का अनुभव करते थे।

बाल्यावस्थाः

बचपन में लड़कियां लड़कों के साथ खेला करती थीं।[५१] यौवनावस्था के चिह्न प्रकट होने के पूर्व तक लड़कों के साथ खेलने वाली लड़कियों के खेल के प्रमुख साधन कौड़ियाँ, चमड़े के बने एक प्रकार के गोल खिलौने, वस्त्र की बनी पुतलियाँ तथा गेंद आदि थे।[५२] यौवनावस्था में प्रवेश करने के पश्चात् लड़कियाँ लड़कों के साथ न खेलकर अपनी सहेलियों के साथ खेलने लगती थीं तथा उनके

---

५०. (क) जइ वि य णं सा सयं रज्जसुक्का।

—नाया० १।८।७३-७५-७७....

(ख) जइ वि सा सयं रज्जसुक्का।

—विवाग० १।९।१७६

(ग) किं दलयामो सुंकं च सूमालियाए।

—नाया० १।१६।११५

५१. तए णं से दासचेडे....बहूहिं दारएहि य दारियाहि य डिंभएहि य डिंभयाहि य कुमारएहि य कुमारियाहि य सद्धिं अभिरममाणे २ विहरइ।

—नाया० १।१८।१३९

५२. तए णं से....अप्पेगइयाणं खुल्लए अवहरइ एवं वट्टए आडोलियाओ तिंदूसए पोत्तुल्लए साडोल्लए।

—वही १।१८।१३९

खेल का प्रमुख साधन गेंद रहा करता था। उस समय युवतियों पर इतना कड़ा बन्धन नहीं था कि वे घर के बाहर न निकल सकें। वे राजपथ पर भी निर्भीकता पूर्वक विहरती थीं।[५३]

कुलीनता एवं सदाचार :

इस प्रकार स्वतन्त्र वातावरण में रहनेवाली युवतियों से समाज इतनी आशा अवश्य करता था कि वे ऐसा कोई कार्य न करें जिससे उनका कुल कलंकित एवं समाज का वातावरण दूषित हो। पुत्री के जीवन में कुलीनता एवं सदाचरण का विशेष महत्त्व था। कुलीन परिवार के व्यक्ति पुत्र के लिए अपने समान कुल की कन्या को वधू के रूप में लाना अधिक पसन्द करते थे।[५४] यही कारण है कि कुलस्त्री के तीन भेदों में एक कुलकन्या भी है।[५५] भले ही कोई कन्या रूप, भोग, ज्ञाति एवं गर्भधारण करने की क्षमता रखती हो किन्तु मात्र शील-हीन होने के कारण उसे पतिकुल में उपयुक्त स्थान प्राप्त नहीं होता था, यहाँ तक कि उसे कुल से निष्कासित भी कर दिया जाता था।[५६]

---

५३. (क) तए णं सा देवदत्ता दारिया अन्नया कयाइ ण्हाया जाव विभूसिया बहूहिं खुज्जाहिं जाव परिक्खित्ता उप्पिं आगासतलगंसि कणगतिंदूसेणं कीलमाणी विहरइ।

—विवाग० १।६।१७४

(ख) तए णं सा सोमा दारिया....रायमग्गंसि कणगतिंदूसएणं कीलमाणी चिट्ठइ।

—अन्त० ३।८।४६

५४. सरिसएहिंतो कुलेहिंतो आणिएल्लियाओ....भारियाओ।

—भगवतीसूत्र, ९।३३।१६ तथा नाया० १।१।२८

५५. इत्थिकुलत्था तिविहा पन्नत्ता तंजहा—कुलवहूया य कुलमाउया इ य कुलधूया इ य।

—नाया० १।५।६०

५६. रूपबलेन च, भिक्खवो, मातुगामो समन्नागतो होति, भोगबलेन च, ञातिबलेन च, पुत्तबलेन च, न च सीलबलेन, नासेन्तेव नं, कुले न वासेन्ति।

—संयुत्त० ३।२२०

पुत्री की कुलीनता के संरक्षण का भार न केवल उसके माता-पिता ही वहन करते थे अपितु उसमें परिवार का प्रत्येक सदस्य योगदान करता था। कितना ही प्रतिष्ठित व्यक्ति क्यों न हो, यदि वह कुलकन्या के साथ दुर्व्यवहार करता था तो उसे समस्त समाज के कोप का भाजन बनना पड़ता था। कुलकन्या के साथ व्यभिचार करनेवाले व्यक्ति को राजा द्वारा शिरच्छेद का दण्ड दिया जाता था।[५७]

आगम साहित्य में तो कन्या के प्रति किये गये दुर्व्यवहार का स्पष्ट उदाहरण नहीं मिलता है किन्तु थेरगाथा की अट्ठकथा में एक स्थल पर कन्या के प्रति किये गये दुर्व्यवहार की चर्चा है। चर्चा इस प्रकार है—एक परिवार साटिमत्तिय नामक भिक्षु पर विशेषरूप से प्रसन्न था। जब कभी भी वे भिक्षा को जाते तो परिवार की कन्या उन्हें भिक्षा देती थी। एक दिन 'मार' उक्त भिक्षुका रूप धारण कर भिक्षा को गया तथा भिक्षा देने के लिए आई कुलकन्या का हाथ पकड़ लिया। यह देखकर लोग अप्रसन्न हुए तथा उन्होंने भिक्षु का सत्कार-सम्मान करना तब तक बन्द कर दिया जब तक कि उन्हें वास्तविक स्थिति ज्ञात न हुई।[५८] कुलकन्या भी गुरुजनों के सामने अपराध के प्रकट हो जाने पर लज्जा से नतमस्तक हो जाती थी।[५९]

कन्या को समाज में पवित्र माना जाता था। दीघनिकाय में

---

५७. दिस्सति खो, गामणि, इधेकच्चो दल्हाय रज्जुया....दक्खिणतो नगरस्स सीसं छिज्जमानो।....अयं पुरिसो किं अकासि....? अम्भो! अयं पुरिसो कुलत्थीसु कुलकुमारीसु चारित्तं आपज्जि तेन नं राजानो गहेत्वा....

—संयुत्त० ३।३०३-३०४

५८. अथेकदिवसं मारो...थेरस्स रूपेन गन्त्वा तं दारिकं हत्थे अग्गहेसि। दारिका 'नायं मनुस्सो' ति अञ्ञासि हत्थं च मुञ्चापेसि। तं दिस्वा घरजनो थेरे अप्पसादं जनेसि। पुनदिवसे थेरो तं कारणं अनवज्जन्ता तं घरं अगमासि। तत्थ मनुस्सा अनादरं अकंसु।

—परमत्थदीपिनी (थेर०की अट्ठकथा, बर्मी लिपि), पृ० ४६१

५९. निगुंजमाणी विव गुरुजणदिट्ठावराहा सुजणकुलकन्नगा.... —नाया० १।९।८५

'कुमारिपञ्हं' शब्द आया है[60] जिसका तात्पर्य कुमारी के शरीर में देवता का अवतरण कर उससे प्रश्न पूछने से है।[61] स्पष्ट है कि देवताओं का अवतरण पवित्र स्थल पर होता है। अतः 'कुमारिपञ्हं' पद से कुमारी की पवित्रतासम्बन्धी सामाजिक मान्यता द्योतित होती है। ऐसी परम्परा भारतवर्ष में आजकल भी कहीं-कहीं प्रचलित है।

माता-पिता एवं पुत्री :

परिवार में पुत्री माता-पिता के असीम स्नेह को प्राप्त करती थी। उन्हें अपनी कन्या को कभी भी कष्ट में देखना अभीष्ट नहीं था। विवाह करते समय वे इस बात का पर्याप्त ध्यान रखते थे कि उनकी पुत्री को पतिकुल में कोई कष्ट न हो। अतः माता-पिता दूसरे परिवार से आनेवाले कन्या के विवाहसम्बन्धी-प्रस्ताव को तब तक स्वीकार नहीं करते थे जब तक कि वे इस बात से आश्वस्त नहीं हो जाते कि उस परिवार में उनकी कन्या का वैवाहिक-जीवन शान्ति से व्यतीत होगा। अज्ञात परिवार के सदस्यों द्वारा की गई कन्या-याचना को केवल इसलिए ठुकरा दिया जाता था कि वहाँ पुत्री के सुख का कोई निश्चय नहीं रहता था।[62] अतः अज्ञात परिवार के व्यक्तियों को पुत्री तभी दी जाती थी जब वे किसी विशिष्ट व्यक्ति द्वारा अपने परिवार की संस्तुति करवाते थे।[63] संस्तुति के आधार पर दी गई पुत्री को

---

६०. दीघ० १।१२

६१. कुमारिपञ्हं ति कुमारिकाय सरीरे देवतं ओतारेत्वा पञ्हपुच्छनं।

—सुम० १।९७

६२. अहं खय्यो तुम्हे न जानामि—'के वा इमे कस्स वा'ति। अयं च मे एक-धीतिका, तिरोगामो च गन्तब्बो, नाहं दस्सामी'ति।

—पारा० पृ० १९५

६३. "देहिमेसं। अहं इमे जानामी" ति। "सचे, भन्ते, अय्यो जानाति, दस्सामी" ति।

—वही, पृ० १९६

यदि पतिकुल में कोई कष्ट होता था तो पुत्री के माता-पिता संस्तुति-कर्त्ता की निन्दा करते थे।[६४]

जैनागमों के काल तक पुत्री को माता-पिता का अत्यधिक स्नेह प्राप्त होने लगा था। कभी-कभी पिता अपनी पुत्री का विवाह केवल ऐसे व्यक्ति से करता था जो उसके घर गृह-जामाता के रूप में जीवन-भर रह सके। इसका कारण यह बताया गया है कि पिता पुत्री के क्षणभर के भी वियोग को सहन नहीं कर सकता था।[६५] जब गज-सुकुमाल ने सोमा से विवाह न कर मुनि-दीक्षा ले ली, तो सोमिल अपनी पुत्री के कष्टमय वैधव्य-जीवन का स्मरण कर दुःखित हो गया

---

६४. "एवं दुग्गतो होतु अय्यो उदायी, एवं दुक्खितो होतु अय्यो उदायी, एवं मा सुखं लभतु अय्यो उदायी, यथा मे कुमारिका दुग्गता दुक्खिता न सुखं लभति पापिकाय सस्सुया पापकेन ससुरेन पापकेन सामिकेना" ति।

—वही, पृ० १९७

६५. (क) एवं खलु देवाणुप्पिया ! सूमालिया दारिया एगा एगजाया इट्ठा जाव किमंग पुण पासणयाए। तं नो खलु अहं इच्छामि सूमालियाए दारियाए खणमवि विप्पओगं। तं जइ णं देवाणुप्पिया ! सागरए दारए मम घरजामाउए भवइ तो णं अहं सागरदारगस्स सूमालियं दलयामि।

—नाया० १।१६।११५

(ख) यह सत्य है कि ऐसी शर्त वही व्यक्ति लगाते थे जिनकी कन्या इकलौती सन्तान होती थी किन्तु इस शर्त में निहित पुत्री के प्रति माता-पिता के स्नेह को जैन-युग की देन ही कहा जायगा। वैदिक-युग में तो इकलौती कन्या सन्तान से व्यक्ति केवल यही आशा करता था कि जिस किसी प्रकार वह अपनी कन्या का विवाह कर उससे उत्पन्न पुत्र (नाती) को प्राप्त कर ले जिससे उसकी धार्मिक अपूर्णता समाप्त हो जाय। उस समय उसका ध्यान पुत्री की अपेक्षा नाती की प्राप्ति में केन्द्रित रहता था। फलस्वरूप व्यक्ति जिस किसी प्रकार से इकलौती पुत्री का विवाह कर देना चाहता था किन्तु समाज में भ्रातृ-हीन कन्याओं के साथ विवाह करना निन्दनीय माना जाता था।

—ऋग्वेद० २।१७।७; अथर्व० १।१७।१;
धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ० २७१

तथा विद्वेषाग्नि से प्रज्वलित हो उसने ध्यानस्थ मुनि गजसुकुमाल के सिर पर जलती चिता के अंगारों को लाकर रख दिया।[६६] धन्ना सार्थवाह के घर चोर आक्रमण कर प्रभूत धनराशि तथा सुषमा नामक कन्या को लेकर भाग गये। सार्थवाह ने नगर-रक्षकों से सहायता की प्रार्थना करते हुए कहा कि चोरों से जो धन प्राप्त होगा वह नगर-रक्षक ले लें तथा सुषमा पुत्री को वह (सार्थवाह) ले लेगा नगर-रक्षकों ने चोरों का पीछा किया तथा अपहृत धन पाकर वापिस लौट आये। किन्तु सार्थवाह अपने पाँच पुत्रों के साथ पुत्री की प्राण-रक्षा हेतु दस्युराज चिलात का पीछा करते हुए बीहड़ जंगलों में भटकता रहा।[६७]

उपर्युक्त उदाहरणों से इसका सहज ही में अनुमान किया जा सकता है कि जैनागम-काल में माता-पिता के लिए पुत्री कितनी प्रिय हो गई थी।

भाई-बहिन :

बड़ा भाई अपनी छोटी बहिन का भरण-पोषण एवं संरक्षण पिता के समान ही करता था। पिता के अभाव में कन्या को भी अपने

---

६६. एस णं, भो, से गयसूमाले कुमारे....जेणं मम धूयं....सोमं दारियं अदिट्ठ-दोसपइयं कालवत्तिणि विप्पजहित्ता मुण्डे जाव पव्वइए। तं सेयं खलु ममं गयसुकुमालस्स कुमारस्स वेरनिज्जायणं....जलन्तीओ चिययाओ फुल्लिय-किंसुयसमाणे खयरङ्गारे कभल्लेणं गेण्हइ, २ गयसूमालस्स अणगारस्स मत्थए पक्खिवइ।

—अन्त० ३।८।५६

६७. तं इच्छामि णं देवाणुप्पिया! सुंसुमाए दारियाए कूवं गमित्तए। तुब्भं.... से विपुले धणकणगे ममं सुंसमा दारिया।....तए णं ते नगरगुत्तिया तं विपुलं धणकणगं गेण्हंति, २ जेणेव रायगिहे तेणेव उवागच्छंति।....तए णं धणे सत्थवाहे सुंसुमं दारियं चिलाएणं अडवीमुहं अवहीरमाणिं पासित्ताणं पंचहिं पुत्तेहिं सद्धिं....चिलायस्स पयमग्गविहिं अणुगच्छमाणे....पिट्ठओ अणुगच्छइ।

—नाया० १।१८।१४२

बड़े भाई के संरक्षण में विवाहपर्यन्त जीवनयापन करने का अधिकार था।[६८] जब कोई व्यक्ति प्रव्रज्या लेने को उद्यत होता था तो उससे रोकने के लिए उसके सम्मुख अनेक कारणों को प्रस्तुत किया जाता था। उनमें एक कारण छोटी बहिन के प्रति विवाहपर्यन्त उचित उत्तरदायित्व का निभाना भी रहता था अर्थात् प्रव्रज्या के इच्छुक व्यक्ति को स्मरण कराया जाता था कि अभी उसकी बहिन छोटी है। अतः प्रव्रज्या न लेकर उसके संरक्षण का भार वहन करे।[६९] तात्पर्य यह कि सामाजिक एवं पारिवारिक दृष्टि से अग्रज को अपनी अनुजा के प्रति वैसा ही उत्तरदायित्व निभाना पड़ता था जैसा कि पिता पुत्री के प्रति निभाता था।

इसी प्रकार छोटा भाई अपनी बड़ी बहिन का वैसा ही सम्मान करता था जैसा कि पुत्र को अपनी माता के प्रति करना चाहिए। मल्लिदिन्न कुमार अपनी बड़ी बहिन मल्ली के साथ माता के समान ही व्यवहार करता है। एकबार वह चित्रगृह के परदे पर बने अपनी बड़ी बहिन के चित्र को साक्षात् बड़ी बहिन समझ कर लज्जा से नतमस्तक होकर वापिस लौट आया। जब धाई द्वारा यह ज्ञात हुआ कि वह बहिन नहीं अपितु बहिन का चित्र मात्र है तो मल्लिदिन्न ने क्रोधित होकर उस चित्र को बनाने वाले चित्रकार की जंघा छिदवा कर उसे राज्य से निष्कासित कर दिया।[७०]

---

६८. सचे कुमारिका भविस्सति सा पि ते ओपभोग्गा भविस्सती'ति।

—दीघ० २।२४६

६९. ....ससा ते खुड्डिया इमा। —सूय० ३।२।३

७०. एस णं मल्ली २ तिकट्टु लज्जिए वीडिए विड्डे सणियं २ पच्चोसक्कइ।.... तए णं अम्मधाई मल्लदिन्नं कुमारं एवं वयासी—नो खलु पुत्ता! एस मल्ली। एस णं मल्लीए चित्तगरएणं तयाणुरूवे निव्वत्तिए।....तए णं से मल्लदिन्ने तस्स चित्तगरस्स संडासगं छिदावेइ २ निव्विसयं आणवेइ।

—नाया० १।८।७८

ननद-भाभी :

आगमों में ननद (कन्या) एवं भाभी के पारस्परिक व्यवहार की विस्तृत चर्चा उपलब्ध नहीं होती है। ऋग्वेद में कुलवधू को ननद पर शासन करने का आशीर्वाद दिया गया है।[७१] यही परंपरा आगमों में परिलक्षित होती है। माता-पिता के जीवितकाल में पुत्री को सम्पत्ति के उपभोग करने में वही स्वतन्त्रता थी जो कि कुलपुत्र को हुआ करती थी। कन्या अपने किसी भी कार्य के लिए दास-कर्मकरों या कौटुम्बिकपुरुषों को स्वतः आज्ञा दे सकती थी। किन्तु माता-पिता के अभाव में कन्या को अपने भाई एवं भाभी के अनुशासन में रहना पड़ता था। यदि कन्या को किसी कार्य के करने की इच्छा होती थी तो वह उसे भाभी के सम्मुख प्रकट करती थी तथा भाभी ही अपनी ननद के कार्य को सम्पन्न करने की आज्ञा दास-कर्मकरों या कौटुम्बिकपुरुषों को देती थी। एकबार महावीर कौशाम्बी पहुँचे। जयन्ती भगवान् के पास जाना चाहती थी। अतः उसने अपनी इच्छा को भाभी मृगावती के सम्मुख व्यक्त किया जिसे सुनकर मृगावती ने कौटुम्बिकपुरुषों को महावीर के दर्शन को जाने के लिए रथ तैयार करने की आज्ञा दी।[७२] इससे स्पष्ट है कि माता-पिता के अभाव में वधू परिवार की स्वामिनी बन जाती थी तथा कुलकन्या को भाभी के प्रभुत्व का सम्मान करना पड़ता था।

---

७१. सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव।
ननांदरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधिदेवृषु ॥

—ऋग्वेद० १०।८५।४६

७२. तए णं सा जयंती समणोवासिया इमीसे कहाए लद्धट्ठा समाणी....मियावतिं देविं....वयासी। सा मियावती....कोडुंबियपुरिसे एवं वयासी....खिप्पामेव भो! देवाणुप्पिया! लहुकरणजुत्तजोइय....जाणप्पवरं जुत्तामेव उवट्ठवेह।

—भगवतीसूत्र, १२।२।२

पैतृक सम्पत्ति का अधिकार :

पुत्री को अपने माता-पिता की सम्पत्ति पर अधिकार था या नहीं, यह एक विचारणीय प्रश्न है। इस विषय में निम्न उद्धरण उपयोगी प्रतीत होते हैं—

(१) पुराने समय में एक ब्राह्मण की दो स्त्रियाँ थीं। एक को दस या बारह वर्ष का एक लड़का था तथा दूसरी गर्भवती थी। इतने में वह ब्राह्मण मर गया। तब उस लड़के ने अपनी माँ की सौत से यह कहा—जो यह धन-धान्य और सोना-चाँदी है, सभी मेरा है। तुम्हारा कुछ नहीं है। यह सब मेरे पिता का तर्का (दाय) है। उसके ऐसा कहने पर ब्राह्मणी बोली—तब तक ठहरो जब तक मैं प्रसव कर लूँ। यदि वह लड़का होगा तो उसका भी आधा हिस्सा होगा, यदि लड़की होगी तो उसे भी तुम्हें पालना होगा।[७३]

(२) माता-पिता पुत्र पर पाँच प्रकार से अनुकम्पा करते हैं...योग्य स्त्री से सम्बन्ध कराते हैं, समय पाकर दायज्ज निष्पादन करते हैं।[७४]

(३) आयुष्मान् सुदिन्न की माता उससे बोली—तात सुदिन्न ! यह कुल आढ्य है। इसमें प्रभूत स्वर्ण एवं रजत है, प्रभूत वित्तोपकरण एवं धन-धान्य है। अतः तात सुदिन्न, बीजक दो जिससे हमारी अपुत्रक-सम्पत्ति को लिच्छवि लोग नहीं लें।[७५]

---

७३. ....यमिदं, भोति, धनं वा....तं मय्हं, नत्थि तुय्हेत्थ किञ्चि, पितु मे भोति, दायज्जं निय्यादेही ति। एवं वुत्ते सा ब्राह्मणी तं माणवकं एतदवोच—आगमेहि ताव, तात, याव विजायामि; सचे कुमारको भविस्सति तस्स पि एकदेसो भविस्सति; सचे कुमारिका भविस्सति सा पि ते ओपभोग्गा भविस्सतीति।

—दीघ० २।२४६

७४. माता पितरो....पञ्चहि ठानेहि पुत्तं अनुकम्पन्ति....पतिरूपेन दारेन संयोजेन्ति; समये दायज्जं निय्यादेन्ति।

—वही, ३।१४६

७५. तेन हि, तात सुदिन्न, बीजकं पि देहि—मा नो अपुत्तकं सापतेय्यं लिच्छवियो अतिहरापेसुं ति।

—पारा० पृ० २३

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट हो जाता है कि बौद्ध-युग में पुत्री को माता-पिता की सम्पत्ति पर कोई अधिकार नहीं था। उसे तो केवल भरण-पोषण करवाने मात्र का अधिकार था। पिता अपनी सम्पत्ति का उत्तराधिकार पुत्र को ही देता था। पुत्रहीन परिवार की सम्पत्ति पर अन्ततो गत्वा शासक लिच्छवियों का अधिकार हो जाता था।

जैनागमों में प्राप्त एक प्रथा से भी पूर्वोक्त तथ्य की ही पुष्टि होती है। उस समय पुत्र एवं पुत्री दोनों ही स्नानादि कर पिता की चरण-वन्दना के लिए जाते थे। पिता चरण-वन्दना के लिए आए पुत्र का तो आदर करता था तथा उसे अपने आसन के आधे भाग पर बैठने के लिए आमन्त्रित करता था, किन्तु वन्दना को आई हुई पुत्री को अपनी गोद में लेकर स्नेह भर करता था।[७६] इस परम्परा में भी पुत्र को आधा आसन देने से उसके उत्तराधिकार एवं पुत्री को गोद में लेने से उसके भरण-पोषण का भाव व्यक्त होता है।

आगमों में ऐसे तो उल्लेख मिलते हैं जिनमें ज्येष्ठ पुत्र को उत्तराधिकार देने की चर्चा है किन्तु ऐसा एक भी दृष्टान्त नहीं मिलता है जिसमें कन्या के उत्तराधिकारी होने का संकेत हो।[७७] थेरीगाथा में यद्यपि सुन्दरी नामक कन्या की माता उससे कहती है कि तू ही सम्पत्ति

---

७६. (क) ....अभये कुमारे ण्हाए....पायवंदए पहारेत्थ गमणाए।....अन्नया ममं सेणिए राया एज्जमाणं पासित्ता....सक्कारेइ....अद्धासणेण उवनिमंतेइ मत्थयंसि अग्घाइ।

—नाया० १।१।१५

(ख) सा दोवई....दुवयस्स रन्नो पायग्गहणं करेइ। तए णं से दुवए राया दोवइं दारियं अंके निवेसेइ।

—वही, १।१६।१२१

७७. (क)....जेट्ठे पुत्ते सएहिं २ रज्जेहिं ठावेइ।

—वही, १।८।६९

(ख) तए णं से आणंदे जेट्ठपुत्ते कुडुम्बं ठवेइ...

—उपा० १।६५

की उत्तराधिकारिणी है।[७८] किन्तु प्रसंग को देखने के बाद यह कहा जा सकता है कि इस कथन का मुख्य उद्देश्य पुत्री को प्रव्रज्या से रोकना मात्र था। वस्तुतः माता-पिता की सम्पत्ति पर पुत्री के अधिकार के सम्बन्ध में कोई भी ठोस प्रमाण नहीं मिलता है।

कतिपय ऐसे भी उल्लेख प्राप्त होते हैं जिनके अनुसार सम्पत्ति पर पूर्ण अधिकार प्राप्त करने के लिए पुत्र पिता को कारागार में बन्द कर देता है या उसकी हत्या कर देता है,[७९] किन्तु ऐसा एक भी दृष्टान्त प्राप्य नहीं है जिसमें उत्तराधिकार की लालसा से पुत्री ने कोई प्रयत्न किया हो। इससे भी माता-पिता की सम्पत्ति पर पुत्री के अधिकार के अभाव का ही संकेत मिलता है।

इस प्रसंग में यह कह देना अनुचित न होगा कि बौद्ध एवं जैन-धर्म से प्रभावित परिवारों में इस उत्तराधिकारसम्बन्धी नियम में शिथिलता आ गई थी। यदि किसी कारणवश पुत्री विवाहित नहीं हो पाती थी या विवाहोपरान्त पति-कुल से लौटा दी जाती थी, तो वह

---

७८. (क)....तुमं दायादिका कुले।

—थेरी० १३।४।३३७

(ख) See also—The Position of Women in Hindu Civilization, p. 237

७९. (क) एवं खलु अहं सेणियस्स....वाघाएणं नो संचाएमि सयमेव रज्जसिरिं करेमाणे विहरित्तए, तं सेयं....सेणियं रायं नियलबन्धणं करेत्ता अप्पाणं महया २ रायाभिसेएणं अभिसिञ्चावित्तए।

—निरया० १।१।३५

(ख) अजातसत्तु पुत्तो तं घातेत्वा उदायिभद्दको।
रज्जं सोलसवस्सानि कारेसि मित्तदुब्भिको॥
उदयभद्दपुत्तो तं घातेत्वा अनुरुद्धको।
अनुरुद्धस्स पुत्तो तं घातेत्वा मुण्डनामको॥

—महावंसो, ४।१-२

सहर्ष अपने पिता के घर जीवनयापन करती थी। ऐसी अवस्था में पितृकुल का कोई भी सदस्य पुत्री को भार-स्वरूप अनुभव नहीं करता था।

धार्मिक-अवस्था :

वैदिक-युग में नारियों को पुरुषों के समान ही धार्मिक-अधिकार प्राप्त थे। नारियाँ पत्नीरूप से पुरुषों के धार्मिक-कृत्यों में सहयोग प्रदान किया करती थीं। अतः वैदिक-काल में पुत्री के लिए धार्मिक-शिक्षा का दिया जाना आवश्यक था।[८०] उत्तर-वैदिक-काल में धार्मिक-कृत्यों की सम्पन्नता में नारी का स्थान पुरोहितों ने ग्रहण कर लिया। इसका प्रभाव पुत्री को मिलनेवाली धार्मिक-शिक्षा पर पड़ा। पुत्री को दी जाने वाली शिक्षा समाप्तप्रायः हो गई। फलस्वरूप पुत्री का उपनयन संस्कार भी केवल रस्म मात्र रह गया। वास्तविक उपनयन संस्कार के अभाव में नारी धर्माचरण के अयोग्य हो गई। उसे शूद्र के समान माना जाने लगा।[८१]

श्रमण-संस्कृति में धार्मिकदृष्टि से नारी को पुरुष के समकक्ष माना गया। नर एवं नारी दोनों को ही अनगारावस्था में साधना कर समानरूप से मुक्ति या अर्हत्पद को प्राप्त करने में समर्थ बताया गया।[८२] नारी को धार्मिक-क्षेत्र में पुरुष के समान पुनः अधिकार प्राप्त

---

८०. (क) हिन्दू परिवार मीमांसा, पृ० १३२-१३३

(ख) प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति, पृ० १५७

८१. हिन्दू परिवार मीमांसा, पृ० १३७

८२. (क) इध, गहपतयो, सामिको होति....भरिया वस्स होपि पाणातिपातापटिविरता....सीलवती कल्याणधम्मा....

—अंगुत्तर० २।६१-६२

(ख) जैनागमों में ऐसी अनेक स्त्रियों की चर्चा आई है जिन्होंने पुरुषों के समान ही मुक्ति प्राप्त की है। मल्ली ने तो स्त्री होकर भी तीर्थंकर पदवी प्राप्त की।

—अन्त० ७-८ तथा नाया० १।८

हो जाना पुत्री के जीवन के विकास के लिए वरदान सिद्ध हुआ। कारण, पुत्री-वर्ग ने ही इस नवीन धार्मिक-अधिकार का सबसे अधिक उत्साह के साथ उपयोग किया।

कन्याओं में धार्मिक-रुचि का बीजारोपण पारिवारिक-जीवन से ही प्रारम्भ हो जाता था। इसका कारण यह था कि परिवार में पुत्री अपनी माता के अनुशासन में ही रहती थी। माता पुत्री के भावी जीवन को ध्यान में रखकर उसे धार्मिक आचार-विचार से प्रभावित किया करती थी। वह अपनी पुत्री को सिखाती थी--तुम ऐसी उपासिका बनना जैसी कि 'खुज्जुत्तरा' हुई है तथा ऐसी भिक्षुणी होना जैसी कि 'खेमा' एवं 'उप्पलवण्णा' हुई है।[८३]

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि पारिवारिक-जीवन में माताओं द्वारा कन्याओं के हृदय में धार्मिक-भावना उत्पन्न करने की प्रथा बौद्धागमों में ही पाई जाती है, जैनागमों में नहीं। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि बौद्धागमों के काल तक समाज में नारियों के प्रति उत्तर-वैदिक-कालीन दृष्टिकोण विद्यमान था। अतः माताओं के लिए यह स्वाभाविक ही था कि वे अपनी पुत्रियों को धार्मिक-वातावरण से प्रभावित कर दें जिससे विपत्ति-काल में पुत्रियाँ धार्मिक जगत् का आश्रय ले विपत्ति से मुक्त हो सकें। जैनागमों के काल तक नारी-जीवन विकसित हो चुका था तथा उनके प्रति उत्तर-वैदिक-कालीन व्यवहार समाप्त हो गया था। अतः वे (नारियाँ) धर्म का आश्रय न लेकर भी जीवन सुख एवं शान्ति से बिता सकती थीं।

कन्याओं के हृदय में धार्मिक-भावना उत्पन्न करने के लिए भिक्षुकों का सात्विक जीवन भी सहायक हुआ। जब भिक्षु परिवार में भिक्षा

---

८३. सद्धा, भिक्खवे, उपासिका एकं धीतरं पियं मनापं एवं आयाचमाना आयाचेय्य 'तादिसा, अय्ये, भवाहि यादिसा खुज्जुत्तरा च उपासिका....।....सचे.... अगारस्मा अनगारियं पब्बजसि; तादिसा, अय्ये, भवाहि यादिसा खेमा च भिक्खुनी उप्पलवण्णा चा'ति।

—संयुत्त० २।१९६-१९७
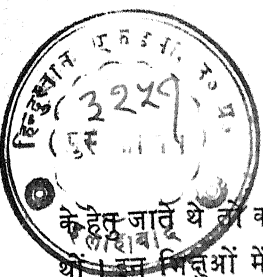
के हेतु जाते थे तो कन्याएँ उन्हें भिक्षा देने में महत्त्वपूर्ण योगदान करती थीं। इन भिक्षुओं में सद्‌गुणों को देखकर पुत्री धर्म के प्रति श्रद्धालु हो जाती थी।[८४]

कन्याएं अपनी बाल्यावस्था में माताओं के उपदेश से धार्मिक आचार-विचार की जो रूपरेखा पाती थीं, अपनी युवावस्था में उसी का परि-शीलन किया करती थीं। यदि उनके हृदय में धर्म के प्रति कोई शंका जाग्रत होती थी तो उसके समाधानार्थ वे धार्मिक महापुरुषों के समीप जाती थीं। चुन्दी नामक राजकुमारी एक कथन के स्पष्टीकरण के लिए पाँच सौ कुमारियों के साथ बुद्ध के पास गई थी।[८५] जयन्ती ने महावीर के पास जाकर गम्भीर तात्त्विक एवं धार्मिक चर्चा की थी।[८६] प्रद्युम्न की कन्याओं कोकनदा तथा छोटी कोकनदा ने भी बुद्ध के पास जाकर उनके दर्शन किये तथा सन्तोष व्यक्त किया। इस समय इन कन्याओं ने बुद्ध के सम्मुख जो गाथाएँ कही थीं वे पुत्री की धार्मिक बुद्धि के विकास के उत्तम प्रमाण हैं।[८७]

---

८४. कम्मकामा अनलसा कम्मसेट्ठस्स कारका।
राग दोसं पजहन्ति ते मे समणा पिया ॥

—थेरी० १३।२।२७५

८५. साहं, भन्ते, भगवन्तं पुच्छामि—'कथं रूपे खो, भन्ते, सत्थरि पसन्नो कायस्स भेदा परं मरणा सुगतिं येव उपपज्जति, नो दुग्गतिं ?

—अंगुत्तर० २।३०१

८६. भगवतीसूत्र, १२।२

८७. (क) सुतमेव पुरे आसि, धम्मो चक्खुमतानुबुद्धो।
साहं दानि सक्खि जानामि, मुनिनो देसयतो सुगतस्स ॥

—संयुत्त० १।२८

(ख) पापं न कयिरा वचसा मनसा,
कायेन वा किञ्चन सब्बलोके।
कामे पहाय सतिमा सम्पजानो,
दुक्खं न सेवेथ अनत्थसंहितं'ति ॥

—वही, १।२९

कन्याओं के जीवन में धार्मिक बुद्धि के विकास से अत्यधिक परिवर्तन हुआ। यद्यपि इसके पूर्व बुद्ध के नूतन एवं स्वतन्त्र दृष्टिकोण से प्रभावित समाज में पुत्री को सम्मान मिलने लगा था तथा वह माता-पिता के लिए कष्टों का स्रोत नहीं रह गई थी किन्तु स्त्रियों को सक्रिय रूपसे धार्मिक-साधना में भाग लेने की अनुमति मिलने पर ही कन्याओं में आत्म-निर्भरता की भावना उदित हुई। उत्तर-वैदिक-कालीन प्रभाव से बौद्ध-युग का नारी-वर्ग पूर्णतया मुक्त नहीं हो पाया था। उस समय (बौद्ध-युग) में भी नारी की पराधीनता एवं कष्टापन्न-दशा दृष्टिगोचर होती थी। अतः उससे मुक्ति पाने के लिए कन्याएँ धार्मिक-शिक्षा प्राप्त कर आध्यात्मिक शान्ति की प्राप्ति हेतु प्रयत्नशील होने लगीं। धार्मिक आचरण करने में पुत्री-वर्ग को अपेक्षाकृत अधिक स्वतन्त्रता भी प्राप्त थी क्योंकि वैवाहिक जीवन के अनन्तर स्त्रियाँ पति के अधिकारक्षेत्र में चली जाती थीं। विवाहित हो जाने पर प्रव्रज्या की इच्छुक स्त्री को पति की आज्ञा प्राप्त करना आवश्यक हो जाता था, जबकि कन्याएँ सहज ही में पिता से प्रव्रज्या की अनुमति ले लेती थीं। यही कारण था कि बौद्ध युग में अनेक कन्याओं ने विवाह न कराकर प्रव्रज्या ली। जैन युग तक स्त्री की अवस्था उन्नत होने से केवल वे ही कन्याएँ धार्मिक-जगत् में प्रवेश करती थीं, जिनको ज्ञानप्राप्ति की तीव्र लालसा होती थी या जो अविवाहित रह जाती थीं।

उत्सव :

जैनागम नायाधम्मकहाओ में पुत्री के जीवन से सम्बन्धित कुछ उत्सवों का भी वर्णन मिलता है। यद्यपि ऐसे उत्सवों का सम्बन्ध राजघरानों की पुत्रियों से उपलब्ध होता है तथापि उनसे पुत्री को प्राप्त सामाजिक मान्यता की ध्वनि प्रकट होती है।

वर्षगांठ :

सर्वप्रथम कन्या के 'वर्षगांठ' महोत्सव का उल्लेख मिलता है। इसका विस्तृत वर्णन तो प्राप्त नहीं होता है किन्तु प्राप्त उद्धरण से इतना

निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वर्षगांठ महोत्सव में कन्या को पुष्पों से सम्मानित किया जाता था।[८८]

चातुर्मासिक स्नान :

कन्या के जीवन से सम्बन्धित दूसरा उत्सव 'चातुर्मासिक स्नान' था। चौथे मास कन्या को समारोह के साथ स्नान कराया जाता था। इस उत्सव के लिए राजमार्ग के निकट मण्डप का निर्माण कर उसे विभिन्न पुष्पों से सुसज्जित किया जाता था। मण्डप के अन्दर पाँच वर्णों के चावलों से नगर-रचना की जाती थी। रचित-नगर के बीच में पट्टक (काष्ठफलक) रखा जाता था। निश्चित समय पर राजा चतुरंगिणी सेना से युक्त होकर अन्तःपुर से परिवृत्त कन्या को आगे करके मण्डप में जाता था जहाँ पुत्री के स्नान को देखने के लिए वह पूर्वाभिमुख आसन पर बैठ जाता था। कन्या को पट्टक पर बिठाकर स्नान कराया जाता था। स्नान सम्पन्न होने पर कन्या सर्वालंकारों से अलंकृत होकर राजा का चरण-स्पर्श करती थी। राजा गोद में लेकर उसे स्नेह-दान करता था।[८९]

शिक्षा :

कुल—कन्याओं को शिल्प एवं कला की शिक्षा देने की प्रथा नहीं थी। आगमों में पुत्र को तो कलाचार्य के पास भेजने के उल्लेख मिलते हैं[९०] किन्तु कन्या के सम्बन्ध में ऐसे उल्लेखों का अभाव है।

---

८८. तत्थ णं मए''''मल्लीए संवच्छरपडिलेहणगंसि दिव्वे सिरिदामगंडे दिट्ठपुव्वे।
—नाया० १। ८।७३

८९. ''''सुबाहुदारियाए कल्लं चाउम्मासियमज्जणए भविस्सइ। तं तुब्भे णं रायमग्गमोगाढंसि मंडवंसि''''सिरिदामगंडं ओलइंति।''''पुप्फमंडवंसि णाणाविहपंचवण्णेहिं तंदुलेहिं नयरं आलिहह तस्स बहुमज्झदेसभाए पट्टयं रएह।''''तए णं''''सुबाहुं दारियं पट्टयंसि दुरूहंति २ सेयपीयएहिं कलसेहिं ण्हाणेंति।
—नाया० १।८।७६

९०. तए णं तं''''अम्मापियरो''''सोहणंसि तिहिकरणमुहुत्तंसि कलायरियस्स उवणेंति। —नाया० १।१।२०, १।५।५८; भगवतीसूत्र, ९।३३

इसका प्रमुख कारण यह है कि शिल्पादि के शिक्षण का महत्त्व पुरुषों के लिए ही था, स्त्रियों के लिए नहीं। उस समय स्त्री के भरण-पोषण को अत्यधिक महत्त्व दिया जाता था।[९१] शिल्प एवं कला से विहीन व्यक्ति घर बसाने के अयोग्य समझा जाता था।[९२] अतः माता-पिता पुत्र को उसके भावी जीवन के हित की दृष्टि से शिल्प एवं कला में विशारद बना देते थे। इसके विपरीत कुलस्त्रियाँ प्रायः जीविकोपार्जन का कार्य नहीं करती थीं। यद्यपि जैनागमों में कुछ ऐसी सार्थवाहियों (थावच्चा, भद्दा) के उल्लेख मिलते हैं[९३] जो व्यापारादि की देख-रेख स्वतः करती थीं किन्तु इन उल्लेखों को अपवाद ही कहा जा सकता है। अतः कन्याओं को जीविकोपार्जन में आधारभूत शिल्पादि की शिक्षा नहीं दी जाती थी।

कुल—कन्याओं के भावी जीवन को सुखद बनाने के लिए यह आवश्यक था कि उन्हें पतिकुल के आचार-विचार के अनुरूप आचरण करने में निपुण कर दिया जाय। अतः कन्याओं को पतिकुल के योग्य सदाचरण की शिक्षा दे दी जाती थी।[९४] स्त्रियों के लिए निर्धारित ६४ कलाओं पर दृष्टिपात करने से भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है।[९५]

---

९१. ····अत्थि च मे उत्तरिं अवसिट्ठं दारभरणाया'ति। सो ततो निदानं लभेथ पामोज्जं····

—दीघ० १।६३, मज्झिम० १।३३७

९२. इतरो जानासि पन किञ्चि सिप्पं ति। न जानामि किञ्चि सिप्पं ति। अजानन्तेन सक्का घरं आवसितुं ति?

—परमत्थदीपिनी (थेरी० की अट्ठ०), पृ० २२१

९३. नाया० १।५।५८; अनु० ३।१७८

९४. ····यथाम्हि अनुसिट्ठा। —थेरी० १५।१।४०६

९५. (क)····चोसट्ठिं महिलागुणे···· —जम्बू० २।३०

(ख) तुलना कीजिये : —काम० पृ० ८३

ऐसी शिक्षा को, अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए कभी-कभी विशिष्ट व्यक्ति द्वारा भी दिला दी जाती थी।[९६]

बौद्धागमों में इस प्रकार की शिक्षा के विषय में स्पष्ट उल्लेख मिलते हैं। कन्याओं को यह सिखाया जाता था कि वे पति के पूज्य माता-पिता एवं श्रमण-ब्राह्मणों का आदर करें तथा अभ्यागतों को आसन एवं उदक देकर सम्मानित करें।[९७] वह पति के माता-पिता के उठने के पूर्व ही उठकर घर के समस्त कार्यों को सम्पन्न कराने में सक्रिय सहयोग करे। सास-ससुर को प्रणाम कर उनके चरण स्पर्श करे।[९८] कुल के सभी सदस्यों के प्रति सम्मान एवं आत्मीयता प्रदर्शित करे एवं पति के पोष्य एवं कर्मकरों के प्रति उचित व्यवहार प्रदर्शित करे। पति के आभ्यन्तरिक कार्यों में निपुणता एवं उसके द्वारा अर्जित धन के रक्षण में दक्षता दिखाये। पति के प्रत्येक कार्य को दासी के समान करे, आदि।[९९]

ऐसी शिक्षा इसीलिए दी जाती थी कि न तो कन्या पतिकुल लौटायी जाय, और न ही पति द्वारा दण्डित या ताड़ित की जाय।

आशय यह कि उस समय शिल्प एवं कला का ज्ञान पुत्र के तथा पतिकुल के अनुरूप आचरण में दक्षता पुत्री के भावी जीवन को सुखी बनाता था। अतः पुत्र को शिल्पादि की तथा पुत्री को पतिकुल के अनुरूप बनने की शिक्षा दी जाती थी।

---

९६. इमा मे, भन्ते, कुमारियो पतिकुलानि गमिस्सन्ति। ओवदतु····अनुसासतु तासं, भन्ते, भगवा, यं तासं अस्स दीघरत्तं हिताय सुखाया' ति।

—अंगुत्तर० २।३०३

९७. ये ते भत्तु गरुनो भविस्सन्ति माता ति वा····ते सक्करिस्सामा....अब्भागते च आसनोदकेन पटिपूजेस्सामा'ति।

—वही, २।३०३

९८. सस्सुया सस्सुरस्स च सायं पातं पणाममुपगम्म। सिरसा करोमि पादे····

—थेरी० १५।१।४०९

९९. अंगुत्तर० २।३०३–३०४; थेरी० १५।१।४०९–४१५

कुल-कन्या को शास्त्रीय शिक्षा किस रूप में दी जाती थी तथा उसे कुल-कन्याएँ किस रूप में ग्रहण करती थीं—इसका विस्तृत वर्णन 'शिक्षा' नामक उपविभाग में दिया गया है। अतः पुनरुक्ति के भय से यहाँ नहीं दिया जा रहा है।

पुत्रीविषयक उपर्युक्त समस्त विवेचन को संक्षेप में इस प्रकार कहा जा सकता है कि उत्तर-वैदिक-काल में पुत्री के प्रति व्याप्त उपेक्षा एवं असन्तोषमूलक व्यवहार की बौद्धागमों में प्रतिक्रियात्मक प्रवृत्ति एवं जैनागमों में समाप्ति पाई जाती है।

विवाह

वैदिक-कालीन स्थिति

उत्तर-वैदिक-कालीन स्थिति

बौद्ध-कालीन स्थिति

जैन-कालीन स्थिति

गन्धर्व-विवाह एवं वरयात्रा का अभाव

माता-पिताओं द्वारा विहित विवाह

क्रय-विक्रय विवाह

स्वयंवर विवाह

विवाह के अन्य प्रकार

अनुलोम तथा प्रतिलोम विवाह

विवाह का क्षेत्र

विवाहयोग्य वय

वधू की योग्यता

वर की योग्यता

विधि-विधान

पुनर्विवाह

विवाह-विच्छेद

बहुपतित्व एवं बहुपत्नीत्व प्रथा

विवाह एवं नारी

●

: २ : विवाह

विवाह का मानव-जीवन में विशेष महत्त्व है, क्योंकि वैवाहिक जीवन में प्रवेश करने के उपरान्त ही नर-नारी परिवार एवं समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्वों का अनुभव करते हैं। ऐसे मानव-समाज की कल्पना भी नहीं की जा सकती जिसमें विवाह का अस्तित्व ही न हो। अतः इसे समाज एवं परिवार की आधार-शिला कहा जा सकता है।

यद्यपि विवाह नर एवं नारी दोनों के ही जीवन में परिवर्तन लाता है तथापि इससे नर की अपेक्षा नारी का जीवन अधिक प्रभावित होता है। विवाहोपरान्त नारी को जीवन के अनेक उतार-चढ़ाव देखने पड़ते हैं। अतः किसी भी समय के नारी-जीवन की जानकारी के लिए तत्कालीन समाज के विवाह-विषयक दृष्टिकोण का ज्ञान अपेक्षित होता है।

वैदिक-कालीन स्थिति :

बौद्ध एवं जैन-आगमों से पूर्व वैदिक-संस्कृति में प्रारम्भ से ही विवाह का विशिष्ट स्थान रहा है। ऋग्वेद तथा अथर्ववेद के अध्ययन से ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज में विवाह का विकास हो चुका था तथा उसके लिए निश्चित पद्धति अपनाई जाने लगी थी। वधू का पाणिग्रहण करते हुए वर कहता था कि 'सौभाग्य के लिए मैं तुम्हारे हाथ को पकड़ता हूँ, जिससे हम दोनों पूर्णायुष्य को प्राप्त कर सकें। देवताओं ने प्रसाद के रूप में तुम्हें मेरे लिए गार्हस्थ्य-जीवन के लिए दिया है।'[1] ऋग्वेद तथा अथर्ववेद दोनों में ही अग्नि से प्रजा

---

१. गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः।
भगो अर्यमा सविता पुरंधिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः॥

—ऋग्वेद० १०।८५।३६

के साथ (योग्य) पत्नी को देने की प्रार्थना की गई है।[२] वेदों में ऐसे अनेक मन्त्र मिलते हैं जो विवाह के अवसर पर वर-वधू को आशीर्वाद देते समय पढ़े जाते थे।[३] सारांश यह कि वेदों में विवाह के सम्बन्ध में अनेक मन्त्र उपलब्ध होते हैं, किन्तु उनमें विवाह के सम्बन्ध में आग्रह-सूचक उल्लेखों का अभाव है। अतः यह कहा जा सकता है कि यद्यपि वैदिक-कालीन समाज विवाह को महत्त्व देता था किन्तु उस समय समाज के सदस्यों के लिए वह अनिवार्य न होकर ऐच्छिक ही था।[४]

उत्तर-वैदिक-कालीन स्थिति :

ब्राह्मण-काल में दो नवीन सिद्धान्तों का उदय हुआ। प्रथम सिद्धान्त के अनुसार पत्नीहीन व्यक्ति को यज्ञ का अधिकारी नहीं माना गया[५] तथा द्वितीय के अनुसार पितृ-ऋण से मुक्ति के लिए पुत्र-प्राप्ति आवश्यक हो गई।[६] यद्यपि ब्राह्मण-साहित्य में भी विवाह का प्रकट रूप से समर्थन नहीं किया गया है तथापि तत्कालीन यज्ञाधिकार एवं पितृ-ऋण-मुक्ति विषयक सिद्धान्तों ने विवाह को आवश्यक बना दिया। कारण, विवाह के बिना पत्नी प्राप्त नहीं की जा सकती थी तथा पत्नी के अभाव में व्यक्ति न तो यज्ञ का अधिकारी बन सकता

---

२. ....नः पतिभ्या जायां दा अग्ने प्रजया सह।

—ऋग्वेद० १०।८५।३८; अथर्व० १४।२।१

३. (क) इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्।
क्रीळन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे॥

—ऋग्वेद० १०।८५।४२ तथा १०।८५।४५-४७

(ख) परा देहि शामुल्यं ब्रह्मभ्यो वि भजावसु।
कृत्यैषा पद्वती भूत्वा जाया विशते पतिम्॥

—अथर्व० १४।१।२५

४. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ० २७३

५. (क) अयज्ञो वा एषः। योऽपत्नीकः

तै० ब्रा० २।२।२।६

६. अथ यदेव प्रजामिच्छेत्। तेन पितृभ्यऽऋणं जायते....

—शत० ब्रा० १।७।२।४

था और न ही पितृ-ऋण से मुक्ति पा सकता था। यही कारण है कि ब्राह्मण-साहित्य में पत्नी को पुरुष का अर्धभाग एवं पत्नीहीन व्यक्ति को अधूरा कहा गया है।[७] अतः ब्राह्मणकाल में यज्ञ एवं पितृ-ऋण से मुक्ति को दिये गये महत्त्व के कारण विवाह समाज के प्रत्येक सदस्य के लिए आवश्यक बन गया।

उपनिषदों के काल तक आश्रम-व्यवस्था का सिद्धान्त विकसित हो गया।[८] इस सिद्धान्त के समर्थकों में अधिकांश ने गृहस्थाश्रम को सर्वश्रेष्ठ बताया।[९] यद्यपि जाबालि-उपनिषद् में गृहस्थाश्रम में प्रवेश को पूर्णतया ऐच्छिक बताया गया,[१०] किन्तु अनेक आचार्यों ने ब्रह्मचर्याश्रम के बाद गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने पर ही जोर दिया।[११] रामायण तथा महाभारत में भी गृहस्थाश्रम को ही सर्वश्रेष्ठ बतलाया गया है।[१२] सारांश

---

७. अर्द्धो ह वा एष आत्मनो यज्जाया तस्माद्यावज्जायां न विन्दते नैव तावत् प्रजायते ऽसर्वो हि तावद् भवति....

—शत० ब्रा० ५।३।६।१०

८. हिन्दू संस्कार, पृ० १९६

९. (क) ऐकाश्रम्यं त्वाचार्या अप्रजननत्वादितरेषाम् ।

—बौ० ध० सू० २।६।२९

(ख) यथा नदीनदाः सर्वे समुद्रे यान्ति संस्थितिम् ।
एवमाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम् ॥

—व० स्मृ० ८।१५

१०. यदि वा इतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद् गृहाद् वा वनाद् वा ।

—जाबा० ४

११. तेषु सर्वेषु यथोपदेशमव्यग्रो वर्तमानः क्षेमं गच्छति ।

—आ० ध० सू० २।९।२१।२

१२. (क) चतुर्णामाश्रमाणां हि गार्हस्थ्यं श्रेष्ठमाश्रमम् ।

—रामा० २।१०६।२२

(ख) आश्रमांस्तुलया सर्वान् धृतानाहुर्मनीषिणः ।
एकतश्च त्रयो राजन् गृहस्थाश्रम एकतः ॥

—महा० १२।१२।१२

यह कि उपनिषद्-काल में आश्रमों के सिद्धान्त के विकसित हो जाने से गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के लिए विवाह को महत्त्व प्रदान किया गया तथा सूत्र एवं महाकाव्य-काल तक गृहस्थाश्रम अन्य तीन आश्रमों से श्रेष्ठ माना जाने लगा।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि वैदिक-संस्कृति में प्राचीन काल से ही विवाह को महत्त्व दिया गया है। वैदिक-काल में यह महत्त्व केवल सामरिक एवं आर्थिक दृष्टि से दिया जाता था किन्तु कुछ समय के उपरान्त धार्मिक दृष्टि से भी विवाह को महत्त्व दिया जाने लगा। उत्तर-वैदिक-काल के अन्त तक विवाह के विषय में धार्मिक दृष्टिकोण ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हो गया। अतः धर्म-प्रधान भारतीय समाज में विवाह अनिवार्य कृत्य बन गया। तात्पर्य यह कि वैदिक-संस्कृति में विवाह को उत्तरोत्तर अधिकाधिक धार्मिक महत्त्व प्राप्त होता गया तथा बौद्ध-युग तक विवाह वैदिक-संस्कृति के अनुयायियों के लिए अनिवार्य धार्मिक-कर्तव्य बन गया।

बौद्ध-कालीन स्थिति :

बौद्ध-युग में वैदिक-संस्कृति में मान्य विवाह-विषयक दृष्टिकोण में उल्लेखनीय परिवर्तन हुआ। बौद्धागमों में विवाह के सम्बन्ध में दो शब्द मिलते हैं—आवाह तथा विवाह।[13] लड़के के हेतु उत्तम कुल से शुभ नक्षत्र में लड़की ले आना आवाह, तथा लड़की को किसी लड़के के लिए उत्तम नक्षत्र में दे आना विवाह कहलाता था।[14] आवाह-विवाहों में परिवार का प्रधान अपने लड़के के लिए किसी कुल से लड़की माँग लाता

---

१३. (क) आवाहविवाहकानं अपत्थितो होति....

—दीघ० ३।१४२

(ख) आवाहनं विवाहनं....

—वही, १।१२

१४. आवाहनं नाम इमस्स दारकस्स असुककुलतो असुकनक्खत्तेन दारिकं आनेथा' ति। विवाहनं ति इमं दारिकं असुकस्स नाम दारकस्स असुकनक्खत्तेन देथ एवं अस्सा बुड्ढि भविस्सती' ति विवाहकरणं।

—सुम० १।९६

था या अपनी लड़की को किसी लड़के के लिए दे आता था।[१५] इस प्रकार बौद्ध-युग में विवाहविषयक प्रमुख कृत्य लड़की को ले आना या दे आना मात्र था। जब लड़की लड़के के लिए पत्नीरूप में माँगी जाती थी तो उसे 'वारेय्य' कहा जाता था।[१६] आवाह-विवाहों में शुभ नक्षत्र का होना महत्त्वपूर्ण माना जाता था तथा इनमें जाति, गोत्र एवं मान का ध्यान रखा जाता था।[१७] कन्या को लेने के पूर्व वर-पक्ष के लोग इतना समझ लेते थे कि जिस कुल से कन्या लाई जा रही है वह उनके कुल के अनुरूप है या नहीं। इसी प्रकार कन्या को देने के पूर्व वर-पक्ष के विषय में भी समझ लिया जाता था। इस महत्त्वपूर्ण कार्य की सम्पन्नता के लिए परिवार का प्रधान अन्य लोगों का भी सहयोग लिया करता था।[१८]

किन्तु विवाह के सम्बन्ध में बौद्धागमों में न तो किसी रीति-रिवाज का वर्णन मिलता है और न ही किसी उत्सव विशेष का। उस समय विवाह सम्पन्न कराने के लिए किसी विशिष्ट व्यक्ति (पुरोहितादि) का सहयोग नहीं लिया जाता था और न ही विवाहित दम्पति को आशीर्वाद दिया जाता था। इससे यह फलित होता है कि बौद्धों में

---

१५. (क) आवाहो ति दारकस्स परकुलतो दारिकाय आहरणं।

—सम० भाग १, पृ० ५५१

(ख) विवाहो ति अत्तनो दारिकाय परकुलपेसनं।

वही

१६. वारेय्यं ति "देथ नो दारकस्स दारिकं" ति याचनं....

—सम० भाग २, पृ० ५५१

१७. यत्थ खो, अम्बट्ठ, आवाहो वा होति विवाहो वा होति आवाहविवाहो वा होति, एत्थेतं वुच्चति जातिवादो वा इति पि गोत्तवादो वा इति पि मान-वादो वा इति पि....

—दीघ० १।८६-८७

१८. पारा० पृ० १९५

विवाह को अनिवार्य धार्मिक कर्तव्य नहीं माना गया अपितु उसे विशुद्ध पारिवारिक कृत्य के रूप में ही मान्यता दी गई। यही कारण है कि अशोक के शिलालेखों में प्राप्त धार्मिक कार्यों की सूची में विवाह का उल्लेख नहीं किया गया।[१९] धार्मिक महत्त्व समाप्त हो जाने से विवाह बौद्ध-धर्मावलम्बियों के लिए अनिवार्य नहीं रहा। फलस्वरूप बौद्ध-परिवारों में कतिपय कन्याओं ने भी विवाह न करने के निश्चय में सफलता प्राप्त की।

जैन-कालीन स्थिति :

जैन-युग में भी विवाह को पारिवारिक-कृत्य के रूप में ही अपनाया गया। यद्यपि बौद्धागमों की भांति जैनागमों में विवाह के लिए आवाह एवं विवाह शब्दों का प्रयोग उपलब्ध नहीं होता तथापि उनमें विवाह के उद्देश्य से कन्या को ले आने या दे आने के काफी उल्लेख मिलते हैं। जैनों में भी विवाह के लिए शुभनक्षत्र को महत्त्व दिया जाता था तथा कन्या-पक्ष वर-पक्ष की कुलीनता एवं प्रतिष्ठा को प्राथमिकता देता था। सामान्यतः समान या उच्च कुल में ही

---

१९. आह मातापितिसु सुसूसितविये हे मेव गरुत्वं प्राणेसू, द्रहितव्यं सचं वतवियं से इमे धंमगुण पवतितविया....

—द्वितीय लघुशिलालेख, अशोक के धर्मलेख, पृ० ९४

तुलना कीजिए :—

'There are no Buddhist ceremonies of marriage, initiation, baptism or the like. Marriage is regarded as a purely civil rite and the Buddhist clergy, as such, take no part in it. This is probably the reason why Asoka, in his edicts on religion, does not mention it.

—E.R.E. 5. 728

कन्याएँ दी जाती थीं।[20] जैनों के विवाह में इतनी विशेषता थी कि उसमें निश्चित रीति-रिवाजों का प्रचलन हो गया था। फलस्वरूप इनमें विवाह विशुद्ध पारिवारिक कर्त्तव्य न रहकर सामाजिक-कृत्य भी बन गया था। विवाह के उत्सव में परिवार के सदस्यों के अतिरिक्त मित्र-गण भी सम्मिलित होने लगे थे।[21] इतना सब होने पर भी जैनों ने भी विवाह को अनिवार्य धार्मिक-कर्त्तव्य के रूप में नहीं माना।

गन्धर्व-विवाह एवं वरयात्रा का अभाव :

आगमों में वर्णित विवाह से सम्बन्धित विभिन्न पहलुओं पर लिखने के पूर्व यह स्पष्ट कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि आगमों में गन्धर्व-विवाह एवं वरयात्रा के प्रचलन के संकेत नहीं मिलते हैं। आगमों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उनमें कहीं भी इस प्रकार के विवाह का उल्लेख नहीं मिलता जिसमें वर या कन्या के माता-पिताओं की सहमति एवं सक्रिय सहायता का अभाव हो। इसके विपरीत विवाह में वर या कन्या की अपेक्षा उनके माता-पिता का ही प्रभुत्व दृष्टिगोचर होता है।[22] यद्यपि बौद्ध एवं जैन-आगमों के आधार पर लिखे गये कुछ

---

२०. (क) सोहणंसि तिहिकरणनक्खत्तमुत्तंसि—सरिसएहिंतो रायकुलेहिंतो आणिल्लियाणं....रायवरकन्नाहिं....

—नाया० १।१।२४; भगवतीसूत्र, ११।११।१८

(ख) तए णं कलाए २ अन्नया कयाइं सोहणंसि तिहि....दारियंण्हायं.... सीयं दुरुहेता....जेणेव तेयलिस्स गिहे तेणेव उवागच्छइ पोट्टिलं दारियं तेयलिपुत्तस्स सयमेव भारियत्ताए दलयह।

—नाया० १।१४।१०१ तथा विवाग० १।६।१७८

२१. ....मित्तणाइसंपरिवुडे····

—नाया० १।१४।१०१, १।१६।११५; विवाग० १।९। १७९

२२. (क) तए णं....अम्मापियरो...पाणिं गिण्हाविंसु।

—नाया० १।१।२४, १।५।५८, १।८।६९

ग्रन्थों में गन्धर्व-विवाह का उल्लेख किया गया है[२३] किन्तु उन उल्लेखों की पुष्टि के लिए प्रमाण आगम-साहित्य से न लेकर टीका-साहित्य से लिए गए हैं। आगम-साहित्य एवं टीका-साहित्य के लेखन का समय सर्वथा भिन्न-भिन्न है। यतः साहित्य समाज का प्रतिबिम्ब होता है, अतः यह सम्भव नहीं कि किसी भी साहित्य पर तत्कालीन समाज का प्रभाव न पड़े। अतएव आगम-साहित्य पर लिखे गये ग्रन्थों में टीका-साहित्य के प्रमाणों से पुष्ट गन्धर्व-विवाह के उल्लेख आगम-कालीन समाज की दृष्टि से प्रामाणिक नहीं कहे जा सकते।

इसी प्रकार आगमों में विवाह के हेतु वर को कन्या के घर जाने के उल्लेख नहीं मिलते हैं। इसके विपरीत उनमें आए विवाहसम्बन्धी उल्लेखों से यही निष्कर्ष निकलता है कि श्रमण-संस्कृति से प्रभावित समाज में वर-यात्रा का आम रिवाज नहीं था। बौद्धागम पाराजिक में आजीवक श्रावक अपने पुत्र के लिए गणिका की पुत्री को मांगते हैं।[२४] जैनागमों में कलाद एवं दत्त सार्थवाह अपनी कन्याओं को वर-पक्ष के घर स्वयं देने जाते हैं।[२५] इसके अतिरिक्त एक ही दिन में अनेक कन्याओं के साथ मेघकुमार, महाबल, अणीयससेन आदि के विवाह के उल्लेख भी मिलते हैं, जो यही सिद्ध करते हैं कि वर विवाह के लिए कन्या के घर नहीं जाता था।

(ख) तए णं कलाए....पोट्टिलं...सीयं दुरूहेत्ता....जेणेव तेयलिस्स गिहे तेणेव उवागच्छइ।

—नाया० १।१४।१०१,१।१६।११५; विवाग० १।९।१७८

२३. जैन सूत्रों में विवाह के तीन प्रकारों का उल्लेख मिलता है—वर और कन्या दोनों पक्षों के माता-पिताओं द्वारा आयोजित विवाह, स्वयंवर विवाह तथा गान्धर्व विवाह।

—जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ० २५३ तथा २६०-२६१ तथा स्टडीज इन दि भगवती-सूत्र, पृ० २११-२१२

२४. पारा० पृ० १९५

२५. नाया० १।१४।१०१ तथा विवाग० १।९।१७८

जैनागमों में वर को कन्या के घर जाने के दो उल्लेख मिलते हैं। प्रथम उल्लेख के अनुसार विवाह के निमित्त अरिष्टनेमि ने वैभव के साथ कन्या-पक्ष के घर को प्रस्थान किया था[२६] तथा द्वितीय के अनुसार जिनदत्त का पुत्र सागर कन्या सुकुमालिका के घर गया था।[२७] इन दोनों उल्लेखों के पूर्वापर प्रसंगों पर दृष्टिपात करने से भी यही प्रतीत होता है कि विवाह के अवसर पर वर कन्या के घर प्रायः नहीं जाता था।

प्रथम उल्लेख के पूर्व प्रसंग के अनुसार जब अरिट्ठनेमिकुमार के लिए राजीमती को मांगा गया तो राजीमती के पिता ने कहा कि यदि कुमार राजीमती को लेने मेरे घर आवे तो मैं उसके लिए अपनी पुत्री दे सकता हूँ।[२८] इस कथन में कुमार को कन्या-पक्ष के घर आने पर ही कन्या दिये जाने की शर्त से यही ध्वनि निकलती है कि वर के कन्या के घर जाने का प्रचलन नहीं था अन्यथा इस प्रकार की शर्त का कोई प्रश्न ही न उठता।

इसी प्रकार द्वितीय उल्लेख के पूर्व प्रसंग से भी जिनदत्त के पुत्र सागर के सुकुमालिका से विवाह करने के लिए उसके पिता सागर-दत्त के घर जाने की पृष्ठभूमि में निहित कारणविशेष का बोध होता है। जिनदत्त ने सुकुमालिका की सुन्दरता पर मुग्ध होकर उसके पिता सागरदत्त के पास जाकर उससे सुकुमालिका को अपनी पुत्रवधू बनाने की इच्छा व्यक्त की। सागरदत्त ने पुत्री को देने में असमर्थता व्यक्त करते हुए कहा कि अगर सागर गृह-जामाता बनकर हमारे घर रहना स्वीकार करे तो सुकुमालिका का विवाह उसके साथ किया जा सकता है।

---

२६. उत्तर० २२।९

२७. तए णं जिणदत्ते....सागरं दारगं सागरदत्तस्स गिहे उवणेइ।

—नाया० १।१६।११५

२८. अहाह जणओ तीसे वासुदेवं महड्ढियं।
इहागच्छऊ कुमारो जा से कन्नं दलामिहं॥

—उत्तर० २२।८

जिनदत्त ने घर जाकर अपने पुत्र को समस्त घटना से अवगत कराया। पुत्र सागर ने मौन से अपनी स्वीकृति व्यक्त की।[२९] अतः शुभ मुहूर्त्त में जिनदत्त सागर को लेकर सागरदत्त के घर गया। यहाँ पुत्री को दे आने की भाँति पुत्र को दे आने का काय सम्पन्न किया गया। कारण, पुत्र को गृह-जामाता बनकर ससुराल में रहना था।

यद्यपि उपर्युक्त दोनों उल्लेखों के पूर्व प्रसंगों से वर के कन्या के घर न जाने के प्रचलन की ही जानकारी होती है तथापि कुछ ग्रन्थों में इन्हीं उल्लेखों के आधार पर इससे ठीक विपरीत निष्कर्ष निकाला गया है।[३०]

तथ्य यह है कि उस समय पारिवारिक या सामाजिक-कृत्यों में परिवार का प्रधान ही प्रमुख भाग लेता था। उसी की सम्मति से सभी पारिवारिक एवं सामाजिक कृत्य सम्पन्न किए जाते थे। यतः विवाह भी उस समय पारिवारिक तथा सामाजिक कृत्य मात्र था, अतः उसे सम्पन्न करने में प्रधान की हैसियत से वर या कन्या के माता-पिता ही उल्लेखनीय भाग लेते थे। अतएव बौद्ध-जैन-युग में ऐसे विवाह का प्रश्न ही नहीं उठता था जिसमें माता-पिताओं का सक्रिय सहयोग न रहता हो या पिता के रहते हुए वर स्वयं कन्या-पक्ष के घर जाता हो।

विवाह के प्रमुख प्रकार :

आगमों में उपलब्ध विवाहों को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—

---

२९. तए णं जिणदत्ते....सागरदारगं....एवं वयासी एवं खलु पुत्ता सागरदत्ते... वयासी...सागरदारए मम घरजामाउए भवइ ताव दलयामि। तए णं से सागरए....एवं वुत्ते समाणे तुसिणीए।

—नाया० १।१६।११५

३०. माता-पिता द्वारा आयोजित विवाह में साधारणतः वर कन्या के घर जाता था।

—जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ० २५७

(१) माता-पिताओं द्वारा विहित विवाह (बिना पैसा लिए)।
(२) क्रय-विक्रय विवाह।
(३) स्वयंवर विवाह।

माता-पिताओं द्वारा विहित विवाह :

लड़के के जीवन के प्रथम विवाह को इस प्रकार में रखा जा सकता है। कारण, उस विवाह में लड़के की अपेक्षा उसके माता-पिता ही प्रमुख रूप से भाग लेते थे। बाल-भाव से उन्मुक्त तथा भोग करने में समर्थ कुमार का उसके माता-पिता समान कुल से लाई गई कन्याओं के साथ विवाह कर देते थे।[३१] विवाह के पूर्व कुमार से विवाह के विषय में न तो कोई विचार-विमर्श किया जाता था और न ही उसकी स्वीकृति ली जाती थी। कारण, प्रथम विवाह के अवसर पर कुमार की बुद्धि इतनी परिपक्व नहीं हो पाती थी कि वह विवाह के विषय में अपनी स्वतन्त्र इच्छा या विचार रख सके। इसकी पुष्टि माता-पिता द्वारा विहित विवाह के कुछ ही दिनों बाद अनेक कुमारों द्वारा सांसारिक-जीवन का त्याग कर भिक्षु-जीवन में प्रवेश करने के उल्लेखों से होती है। ये कुमार गृह-त्याग के पूर्व या पश्चात् पत्नी के प्रति निभाए जाने वाले उत्तरदायित्व एवं प्रेमाचार की भावना से शून्य होते थे।[३२]

---

३१. (क) तए णं सा थावच्चा गाहावइणी तं दारगं....भोगसमत्थं जाणित्ता बत्तीसाए इब्भकुलवालियाणं एगदिवसेणं पाणिं गेण्हावेइ....

—नाया० १।५।५८

(ख) तए णं महब्बलं उम्मुक्कबालभावं जाव अलंभोगसमत्थं वियाणिता.... पाणिं गिण्हाविसु।

—भगवतीसूत्र ११।११।१६-१७

३२. (क) मज्झिम० २।२८८-२८९, पारा० २९ आदि।

(ख) इमाओ ते जाया! सरिसियाओजाव पव्वइस्ससि। एवं खलु अम्मयाओ माणुस्सगा कामभोगा असुई....

—नाया० १।१।२८, १।५।५९ तथा भगवतीसूत्र, ९।३३, ११।११ आदि

यह बात दूसरी है कि विशेष स्थिति की उपस्थिति में पिता अपने पुत्र से विचार-विमर्श कर विवाह के विषय में उसकी स्वीकृति ले लेते थे। जिनदत्त ने अपने पुत्र से विवाह-विषयक-स्वीकृति इसलिए ली थी कि विवाहोपरान्त उसके पुत्र को अपनी ससुराल में गृह-जामाता के रूप में रहना था। अतः पिता ने विवाह के पूर्व अपने पुत्र से इतना जानना चाहा कि उसे गृह-जामाता के रूप में जीवन-यापन करना स्वीकार है या नहीं।[३३]

क्रय-विक्रय विवाह :

जिन विवाहों में शुल्क देकर कन्या प्राप्त की जाती थी या शुल्क लेकर कन्या दी जाती थी, उन्हें इस प्रकार के अन्तर्गत रखा जा सकता है। इस प्रकार के विवाह की प्रथा का प्रचलन वैदिक-काल में भी था।[३४] सुत्तनिपात के[३५] उल्लेख से ज्ञात होता है कि बौद्ध-युग में ब्राह्मण स्त्री को खरीदते थे। आगमों में इस प्रकार के विवाह के काफी उल्लेख मिलते हैं।

बौद्ध एवं जैन दोनों ही युगों में कुछ ऐसे व्यक्ति थे जो अपनी कन्या को शुल्क लेकर ही विवाह हेतु दिया करते थे। ऋषिदासी का दो बार विवाह किया गया तथा दोनों ही बार उसके पिता ने उसके बदले में शुल्क लिया।[३६] मिलिन्दपञ्ह में भी शुल्क देकर कन्या को लेने का उल्लेख मिलता है।[३७] जैन-युग तक शुल्क देकर कन्या लेने की प्रथा बढ़ती हुई दृष्टिगोचर होती है। जैनागमों में वरपक्ष से भेजे गए अधिकांश विवाह-विषयक प्रस्तावों में शुल्क की चर्चा देखी जाती है। विवाह-प्रस्ताव के साथ कन्या के शुल्क पर जिज्ञासा करने पर

---

३३. देखिए—उद्ध० २९

३४. Vedic Index, 1.482

३५. न ब्राह्मणा अञ्ञमगमुं न पि भरियं किणिंसु ते। —२।७।७०

३६. थेरी० १५।१।४२२

३७. नाया० १।८, १४, १६ आदि; विवाग० १।९।१७७

कलाद ने कहा कि अमात्य तेतलिपुत्र ने पत्नी के निमित्त मेरे ऊपर जो कृपा की, वही मेरा शुल्क है।[३८] इसी प्रकार दत्त सार्थवाह ने भी शुल्क के विषय में कहा।[३९] कलाद एवं दत्त सार्थवाहों के उत्तरों से यह आशय निकलता है कि उस समय कन्या के बदले में शुल्क लेने का प्रचलन था। किन्तु इस प्रकार के शुल्क लेने या देने का कृत्य उस समय नहीं होता था जब कन्या लड़के के प्रथम विवाह के हेतु समान या श्रेष्ठ कुल को दी जाती थी।

इसके अतिरिक्त जब कोई अत्यधिक सुन्दर कन्या होती थी तो उसके साथ विवाह करने के लिए वैभवसम्पन्न परिवारों के पुत्र लालायित रहा करते थे। अतः विवाह का इच्छुक प्रत्येक राजपुत्र या कुलपुत्र कन्या को प्राप्त करने के लिए उसके माता-पिता को कन्या-शुल्क के रूप में अधिक से अधिक धन देने की इच्छा व्यक्त करता था। इस प्रतिस्पर्द्धात्मक प्रवृत्ति का अस्तित्व बौद्ध-युग में था। कारण, गण-राज्य में प्रत्येक वैभव-सम्पन्न व्यक्ति अधिकार-सम्पन्नसा होता था। अनुपमा की अत्यधिक सुन्दरता पर मुग्ध राजपुत्रों तथा श्रेष्ठि-पुत्रों को उसे प्राप्त करने की लालसा थी। फलस्वरूप उन सभी ने अनुपमा के पिता को उसके शुल्क के रूप में अधिक से अधिक धन देने की इच्छा व्यक्त की थी।[४०] इसी प्रकार अम्बपाली को प्राप्त करने के लिए राजपुत्रों में कलह उत्पन्न हो गया था।[४१] चूंकि अम्बपाली के माता-पिता नहीं थे, अतः उसे प्रत्येक राजपुत्र शुल्क के स्थान पर शक्ति से प्राप्त

---

३८. एस चेव णं देवाणुप्पिया! मम सुक्कं जन्नं तेयलिपुत्ते मम दारियानिमित्तेणं अनुग्गहं करेइ।

—नाया० १।१४।१०१

३९. विवाग० १।६।१७७

४०. देखिए—पुत्री, उद्ध० ४७

४१. अथ नं अभिरूपं....दिस्वा सम्बहुला राजकुमारा अत्तनो परिग्गहं कातुकामा अञ्ञमञ्ञं कलहं अकंसु।

—परमत्थदीपिनी (थेरी० की अट्ठकथा), पृ० २०७

करना चाहता था। कहने का आशय यह कि बौद्ध-युगीन गणराज्यों में अत्यधिक सुन्दर कन्या को प्राप्त करने के लिए उसके माता-पिता को शुल्क दिया जाता था।

कालान्तर में गणतंत्र की समाप्ति हो गई थी। फलस्वरूप बाद में अनेक गणराजाओं के स्थान पर प्रत्येक राज्य में सर्वाधिकार सम्पन्न एक व्यक्ति राजा होने लगा। वह राजा अपने अन्तःपुर को अधिक सम्पन्न बनाने के लिए सुन्दर कन्या को शुल्क देकर ले लिया करता था। कारण, सुन्दरतम स्त्रियों से युक्त अन्तःपुर राज्यवैभव का आवश्यक चिह्न माना जाता था तथा उससे राजा अपने को गौरवान्वित अनुभव करता था। अतः जब कभी वह अपने अन्तःपुर में स्थित स्त्रियों से अधिक सुन्दर कन्या के विषय में सूचना पाता था, तभी उस कन्या को शुल्क देकर प्राप्त करने का प्रयास करता था।[४२]

विवाह का यह प्रकार हिन्दू-संस्कृति में भी उपलब्ध होता है जिसे आसुर विवाह कहा गया है।

स्वयंवर विवाह :

जिन विवाहों में कन्या अपने पति का वरण करती थी, उन्हें इस प्रकार में रखा गया है। यह प्रथा क्षत्रिय-वर्ग में प्रचलित थी। इसमें क्षत्रिय कन्या या राजकुमारी चुनाव के लिए आये पुरुषों में से किसी को भी अपना पति चुन लेती थी।[४३] वैदिक-साहित्य में इस प्रकार के

---

४२. तं अत्थियाइं ते कस्सइ रन्नो वा जाव एरिसए ओरोहे दिट्ठपुव्वे जारिसए णं इमे मयं आरोहे....विदेहवररायकन्नाए छिन्नस्स वि पायंगुट्ठगस्स इमे तव ओरोहे सयसहस्सइमंपि कलं न अग्घइ।....तए णं से जियसत्तू दूयं सद्दावेइ....जइ वि य णं सा सयं रज्जसुक्का।

—नाया० १।८।७६

४३. Self Choice, the election of a husband by a princess or daughter of a Kshatriya at a public assembly of suitors.

—S.E.D. p. 1278

विवाहों से मिलते-जुलते रीति-रिवाजों का उल्लेख उपलब्ध होता है। उस समय पुरुषों तथा स्त्रियों को अपने मन से जीवनसाथी के वरण की स्वतन्त्रता थी।[४४] सूत्रकाल तक कन्याओं की यह स्वतन्त्रता समाप्त हो गई तथा उनके माता-पिता ही वर का चयन करने लगे। यद्यपि रामायण तथा महाभारत में स्वयंवर विवाह का विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है[४५] किन्तु वहाँ स्वयंवर शब्द का रूढ अर्थ 'स्वतन्त्र-रूप से पति का वरण' नहीं है। प्राचीन भारत में स्वयंवर की दो प्रणालियाँ प्रचलित थीं—एक तो वह जिसमें वधू एक नियत स्थान पर इकट्ठे हुए व्यक्तियों में से अपनी रुचि के व्यक्ति को चुन लेती थी। दूसरी वह जिसमें पूर्व निर्धारित शर्तों को पूरा करनेवाला हो कन्या के साथ विवाह करने का अधिकारी होता था। पहली प्रथा रामायण तथा महाभारत में उपलब्ध नहीं होती है। दूसरी प्रथा के विषय में अवश्य उल्लेख मिलते हैं,[४६] किन्तु इसमें कन्या की स्वतन्त्र इच्छा का बिलकुल महत्त्व नहीं रहता था। जो स्वयंवर में निश्चित शर्त को पूरा कर लेता था, कन्या उसी के गले में वरमाला डालने को बाध्य होती थी।

बौद्ध-आगमों में स्वयंवर विवाह के अस्तित्व-सूचक उल्लेखों का अभाव है। बौद्ध-युग में ऐसी सुन्दर कन्या को, जिसे चाहनेवाले अनेक राजपुत्र तथा श्रेष्ठिपुत्र होते थे, भिक्षुणी या गणिका बनते देखा

---

४४. Vedic Index, 1.482

४५. रामा० २।११८, महा० १।१८४

४६. (क) इदं च धनुरुद्यम्य सज्यं यः कुरुते नरः।
तस्य मे दुहिता भार्या भविष्यति न संशयः

—रामा० २।११८।४२

(ख) इदं सज्यं धनुः कृत्वा सज्जैरेभिश्च सायकैः।
अतीत्य लक्ष्यं यो वेद्धा स लब्धा मत्सुतामिति॥

—महा० १।१८५।११

हुई पुतलियाँ चित्रित की गईं।[52] मण्डप के भूभाग को साफ कराकर उसे समार्जित कर लिपवाया गया। तत्पश्चात् सुगन्ध एवं मालाओं से उसे सुसज्जित किया गया। उसमें प्रत्येक व्यक्ति के नाम से अंकित अनेक आसन लगाये गये।[53]

स्वयंवर में शामिल होने के लिए आए हुए व्यक्तियों के निवास आदि की राजकीय व्यवस्था की गई।[54] स्वयंवर के लिए निर्धारित समय के एक दिन पूर्व उसकी घोषणा की गई तथा घोषणा में राजाओं से अपने नाम से अंकित आसनों पर बैठने का अनुरोध किया गया।[55]

स्वयंवर के लिए निश्चित दिन तथा समय पर सभी राजाओं ने अपने-अपने वैभव के साथ मण्डप में प्रवेश किया। द्रौपदी ने भी स्नान कर जिन-पूजा की। तत्पश्चात् द्रौपदी को सर्वालंकारों से अलंकृत किया गया। अलंकृत हो जाने पर क्रीडन-धाई के साथ अश्वरथ पर बैठकर स्वयंवर मण्डप में पहुँची। मण्डप में प्रवेश कर द्रौपदी ने सभी आगन्तुक राजाओं को दोनों हाथ जोड़कर प्रणाम किया।[56] तत्पश्चात् एक

---

५२. ....नयरे बहिया गंगाए महानईए अदूरसामंते एगं महं सयंवरमंडवं करेह अणेगखंभसयसन्निविट्ठं लीलट्ठियसालिभंजियागं...

—नाया० १।१६।१२३

५३. सयंवरमंडवं आसिय-संमज्जिओवलित्तं....गंधवट्टिभूयं मंचाइमंचकलियं करेह...बहूणं रायसहस्साणं पत्तेयं २ नामंकाइं आसणाइं....रएह।

—नाया० १।१६।१२३

५४. वासुदेवपामोक्खाणं पत्तेयं २ आवासे वियरइ....विपुलं असणं.... आवासेसु साहरह।

—वही

५५. कल्लं पाउपभायाए....दोवईए सयंवरे भविस्सइ। तं तुब्भे सयंवरामंडवे.... नामंकेसु आसणेसु निसीयह....

—वही

५६. करयल....तेसिं...राजवरसहस्साणं पणामं करेइ।

—वही, १।१६।१२५

गया है।[४७] यह बात दूसरी है कि उस समय वर चुनते समय कन्या की इच्छा को महत्त्व दिया जाता था।[४८]

जैनागम नायाधम्मकहाओ एवं जातक-अट्ठकथा में स्वयंवर विवाह के उल्लेख अवश्य मिलते हैं।[४९] यद्यपि इन दोनों ग्रन्थों में महाभारत की पुरानी द्रौपदी-पांडव से सम्बन्धित स्वयंवर की घटना को तोड़-मरोड़ कर प्रस्तुत किया गया है तथापि उन पर सूक्ष्म दृष्टिपात करने से तत्कालीन समाज में स्वयंवर-विवाह का वास्तविक स्वरूप ज्ञात हो जाता है।

नायाधम्मकहाओ के अनुसार राजा द्रुपद एवं रानी चुलनीदेवी की द्रौपदी नामक सुन्दर कन्या थी। तत्कालीन प्रथा के अनुसार एकबार जब द्रौपदी स्नान करके अपने पिता के चरण छूने आई, तो राजा ने गोद में लेकर उससे कहा कि यदि मैं किसी के लिए तुम्हें पत्नी के रूप में दूँगा तो तुम सुखी या दुःखी रहोगी, जिससे मुझे यावज्जीवन कष्ट होगा। अतः मैं स्वयंवर की रचना करता हूँ। उसमें तुम जिसको चाहो, अपना पति चुन लेना।[५०]

स्वयंवर की रचना का निश्चय कर लेने के बाद राजा ने, उसमें सम्मिलित होने के लिए, अनेक राजाओं एवं विशिष्ट व्यक्तियों को निमन्त्रित किया।[५१] स्वयंवर के लिए नगर के बाहर नदी के समीप अनेक स्तम्भों वाले मण्डप का निर्माण कराया गया जिसमें क्रीड़ा करती

४७. (क) साहं दिस्वान सम्बुद्धं....पब्बजिं अनगारियं।

—थेरी० ६।५।१५४-१५५

(ख) तेसं कलहवूपसमत्थं तस्सा कम्मसंचोदिता वोहारिका सब्बेसं होतु ति गणिका ठाने ठापेसुं।

—परमत्थदीपिनी (थेरी० की अट्ठकथा), पृ० २०७

४८. देखिए—पुत्री, उद्ध० २९

४९. नाया० १।१६।१२२-१२५; जा० ५।१२६

५०. देखिए—पुत्री, उद्ध० ३७

५१. —नाया० १।१६।१२२

सुन्दर माला को हाथों में लेकर वह क्रीडनधाई के पास आई। धाई ने दर्पण के सहारे द्रौपदी को सभी राजाओं का परिचय दिया। परिचय में माता, पिता, वंश, सत्त्व, सामर्थ्य, गोत्र, कान्ति, विक्रम, अनेक शास्त्रों का ज्ञातृत्व आदि का वर्णन किया गया।[५७]

परिचय पाने के उपरान्त द्रौपदी ने पाँच पाण्डवों को अपना पति चुना। चुनाव के बाद द्रुपद राजा ने द्रौपदी एवं पाँच पाण्डवों को घर लाकर उनका सविधि पाणिग्रहण संस्कार संपन्न किया, तथा विपुल प्रीतिदान दिया।[५८]

स्वयंवर के उपर्युक्त संक्षिप्त वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि महाभारत के कथानक को पूर्णतः दूसरे ढंग से प्रस्तुत किया गया है। महाभारत के स्वयंवर में कन्या वर को चुनने में स्वतन्त्र नहीं थी। फलतः वहाँ स्वयंवर का वास्तविक उपयोग करने में कन्या सर्वथा असमर्थ थी, जब कि जैनागम में वर्णित स्वयंवर में कन्या की इच्छा को प्रमुखता दी गई है। यह स्वयंवर के पूर्वोक्त दो प्रकारों में से प्रथम प्रकार में आता है।

यद्यपि आगमों में वर्णित विवाहों को तीन भेदों में बाँटा गया है किन्तु इसका उद्देश्य विवाहविषयक विशद जानकारी कराना मात्र है। वस्तुतः विवाह का एक ही प्रकार---वर या कन्या या दोनों के माता-पिताओं द्वारा विहित था किन्तु वर या कन्या के चयन की दृष्टि से उक्त तीन भेद किये गये हैं। प्रथम प्रकार के विवाह में वर या कन्या का चयन पूर्णतः माता-पिताओं के अधीन रहता था जबकि द्वितीय एवं तृतीय प्रकार के विवाहों में कन्या तथा वर के चुनाव में वर तथा

---

५७. अम्मापिउवंससत्तसामत्थगोत्तविक्कंतिकंति-बहुविहआगममाहप्परूवजोव्वणगुण-लावण्णाकुलसीलजाणिया कित्तणं करेइ।

—वही, १।१६।१२५

५८. तए णं दुवए राया····पंचण्हं पंडवाणं दोवईए य पाणिग्गहणं करावेइ····पीइदाणं दलयइ····

—वही

कन्या प्रमुख भाग लेते थे। कन्या या वर के चयन के बाद शेष विवाह-विधि जो कि जैनागमों में वर्णित है, उनके माता-पिता ही सम्पन्न किया करते थे।

विवाह के अन्य प्रकार :

विवाह के पूर्वोक्त प्रकारों के अतिरिक्त, कुछ अन्य प्रकारों के भी उल्लेख मिलते हैं। एक स्थल पर रोती-बिलखती कन्या को बलपूर्वक उसके माता-पिता से छीन कर ले जाने की चर्चा आई है।[५९] यद्यपि उक्त कन्या को धनिक, अधमर्ण के घर से ले गया था किन्तु बाद में धनिक ने अपने पुत्र के साथ कन्या का विवाह कर दिया था। अतः इस विवाह को आंशिकरूप से हिन्दुओं द्वारा मान्य राक्षस-विवाह के समान कहा जा सकता है। इसी प्रकार विवाह की इच्छा से चिलात दस्यु-राज द्वारा सुषमा कन्या का अपहरण पैशाच विवाह की समानता रखता है।[६०] यतः इन दोनों प्रकार के विवाहों से सम्बधित अन्य उल्लेखों का अभाव है, अतः इन्हें अपवाद ही कहा जा सकता है।

अनुलोम तथा प्रतिलोम विवाह :

बौद्धागमों में अनुलोम तथा प्रतिलोम विवाह सूचक क्षत्रियकुमार तथा ब्राह्मणकुमारी या ब्राह्मणकुमार एवं क्षत्रियकुमारी के विवाहों के उल्लेख प्राप्त होते हैं।[६१] चूंकि आगमों में क्षत्रिय-वर्ग को ब्राह्मण-वर्ग से श्रेष्ठ बताया गया, अतः प्रथम युगल के विवाह को अनुलोम तथा द्वितीय युगल के विवाह को प्रतिलोम कह सकते हैं। जैनागमों में अनुलोम

---

५९. ओकड्ढति विलपन्तिं अच्छिन्दित्वा कुलघरस्मा।

—थेरी० १५।१।४४६

६०. चिलाए चोरसेणावई धणस्स सत्थवाहस्स गिहं घाएइ....सुंसुमं च दारियं गेण्हइ....

—नाया० १।१८।१४१

६१. ....इध खत्तियकुमारो ब्राह्मणकञ्ञाय सद्धिं संवासं कप्पेय्य.... ब्राह्मणकुमारो खत्तियकञ्ञाय सद्धिं.......

दीघ० १।८४–८५

विवाह की ही प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। कारण, उस समय विवाह-हेतु पुत्री को समान, या श्रेष्ठ कुल में ही देने की प्रवृत्ति थी।[६२]

विवाह का क्षेत्र :

बौद्धागम दीघनिकाय में उपलब्ध सगे भाई-बहिनों के बीच विवाह सम्बन्धी उल्लेख विवाह-क्षेत्र को अपरिमित-सा बना देते हैं। उल्लेख के अनुसार इक्ष्वाकु (ओक्काक) राजा के चार-चार पुत्रों ने जाति-भेद के भय से अपनी सगी छोटी बहिनों के साथ संवास किया। इतना ही नहीं, अपितु उनकी इस क्षमता को देखकर इक्ष्वाकु राजा ने उन्हें शक्य (सक्क) पद से विभूषित किया। उन्हीं शक्यों को बौद्धयुगीन शक्यों का पूर्वज बतलाया गया।[६३] इस प्रकार के, सगे भाई-बहिनों के बीच विवाह का प्रचलन कब था, इसे निश्चित रूप से कहना अत्यन्त कठिन है। कारण ऋग्वेद में प्राप्त यम-यमी के संवाद से यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक-काल के प्रारम्भ में भी इस प्रकार का विवाह-सम्बन्ध निषिद्ध था।[६४] कुछ विद्वानों के मत में इस प्रकार के विवाह का प्रचलन अत्यन्त प्राचीन-काल में था,[६५] किन्तु वैदिक-साहित्य तथा बौद्ध एवं जैन-आगमों में ऐसे उल्लेखों का नितान्त अभाव है जिनसे इस प्रकार के विवाह के प्रचलन का निश्चित समय ज्ञात किया जा सके। यद्यपि वंश-साहित्य के प्रमुख ग्रन्थ 'महावंस' में राजा सिंहबाहु द्वारा अपनी सगी बहिन सिंहसीबली को अपनी रानी बनाने का उल्लेख

---

६२. नाया० १।१४।१०१; विवाग० १।९।१७३; अन्त० ३।८।४९

६३. ते जातिसम्भेदभया सकाहि भगिनीहि सद्धिं संवासं कप्पेन्ती'ति। अथ खो.... ओक्काको उदानं उदानेसि—'सक्या वत, भो, कुमारा ! परमसक्या वत, भो, कुमारा'ति। तदग्गे खो पन, अम्बट्ठ, सक्या पञ्ञायन्ति; सो च नेसं पुब्बपुरिसो। —दीघ० १।८०–८१

६४. ऋग्वेद० १०।१०

तुलना कीजिये :—Vebic Index, 1. 475

६५. Vebic Index, 1. 475

उपलब्ध होता है,[६६] किन्तु वह अप्राकृतिक घटनाओं से सम्बद्ध होने से महत्त्व-हीन है।[६७]

इसके विपरीत आगम-कालीन समाज में गोत्र-रक्षित कन्या के साथ संवास करना अत्यन्त घृणित माना जाता था।[६८] उस समय बहिन एवं पत्नी को पूर्णतया पृथक्-पृथक् दृष्टि से देखा जाता था। जब प्रव्रजित पति अपनी पत्नी को 'भगिनी' पद से सम्बोधित करता था, तो पत्नी के हृदय को बड़ा आघात लगता था और वह मूर्च्छित होकर गिर जाती थी।[६९]

फुफेरे-ममेरे भाई-बहिनों के बीच विवाह-सम्बन्ध होने के भी यत्र-तत्र ही उल्लेख मिलते हैं। उदाहरण के लिए, अजातशत्रु का, जो कि प्रसेनजित् का भानजा था, वजिरा (प्रसेनजित् की कन्या) के साथ विवाह हुआ था।[७०] ऐसी प्रथा आजकल भी दक्षिण भारत में प्रचलित है। चूँकि आगामों से इस प्रकार के विवाह-सम्बन्धों की अधिक जानकारी प्राप्त नहीं होती, अतः यह कहना उचित होगा कि आगम-कालीन समाज में इस प्रकार के विवाह का प्रचलन अधिक नहीं था।

साधारणतया बौद्ध-युग में समान जाति एवं जैन-युग में समान कुल ही विवाह का क्षेत्र था तथा वर एवँ कन्या के गोत्रों में असमानता विवाह के लिए निर्णायक परिधि थी।

---

६६. लालरट्ठे पुरे तस्मिं सीहबाहु नराधिपो।
रज्जं कारेसि कत्वान महेसिं सीहसीवलिं ॥

—महावंसो ६।३६

६७. वही, ६।८–१०

६८. देखिए—उद्ध० ७८

६९. भगिनीवादेन नो अय्यपुत्तो रट्ठपालो समुदाचरती'ति ता तत्थेव मुच्छिता पपतिंसु।

—मज्झिम० २।२८

७०. Buddhist India, p. 2.

विवाहयोग्य वय :

वैदिक-काल में विवाह उस समय होते थे, जब लड़का तथा लड़की दोनों ही अपने जीवन-साथी को चुनने का सामर्थ्य प्राप्त कर लेते थे। [७१] रामायण तथा महाभारत-काल में भी पूर्ण यौवनावस्था प्राप्त कर लेने पर ही विवाह किया जाता था। [७२] किन्तु सूत्रकाल में सर्वप्रथम कन्याओं की विवाहयोग्य वय में ह्रास हुआ। [७३] सूत्र-साहित्य में १२ वर्ष की आयु तक कन्या का विवाह करना आवश्यक बतलाया गया। [७४]

बौद्धागमों में एक ओर यदि छोटी उम्र में कन्याओं के विवाह के उल्लेख मिलते हैं [७५] तो दूसरी ओर पूर्ण यौवनावस्था को प्राप्त कन्याओं के भी विवाह की चर्चा उपलब्ध होती है। [७६] इसका प्रमुख कारण यह था कि सूत्र-काल में कन्याओं के विवाह की वय में जो ह्रास हुआ था

---

७१. तुलना कीजिए :—

Marriage in the early Vedic texts appears essentially as a union of two persons of full development.

—Vedic Index, 1.474

७२. पतिसंयोगसुलभं वयो दृष्ट्वा तु मे पिता।

—रामा० २।११९।८५

तुलना कीजिए :—हिन्दू संस्कार, पृ० २३७

७३. Vedic Index, 1. 475

७४. देखिए—पुत्री, उद्ध० २०, २१

७५. (क) या पन भिक्खुनी ऊनद्वादसवस्सं गिहिगतं वुट्ठापेय्य....

—पाचि० पृ० ४४१

(ख) पञ्चिमानि, भिक्खवे, आवेणिकानि........मातुगामो दहरो व समानो पतिकुलं गच्छति....

—संयुत्त० ३।२१२

(ग) देखिए—पुत्री, उद्ध० ४८

७६. अथ सोलसमे वस्से, दिस्वा मं पत्तजोब्बनं कञ्ञं।
ओरून्धतस्स पुत्तो....

—थेरी० १५।१।४४७

उसका प्रभाव बौद्ध-युगीन समाज में विद्यमान था। अतः उसमें भी १२ वर्ष की आयु कन्याओं की विवाहयोग्य वय थी। इसके विपरीत बौद्ध-धर्म से प्रभावित परिवारों में कन्याओं की विवाह-वय में वृद्धि हुई। यही कारण था कि कतिपय कन्याएँ विवाह के प्रस्ताव को ठुकरा दिया करती थी। अतः इससे बौद्ध-युगीन समाज में न्यूनता को प्राप्त कन्याओं की विवाहयोग्य वय के प्रति विद्रोहात्मक प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। जैनागमों में बाल्यभाव से उन्मुक्त कुमार के साथ समान वय की कन्या के विवाह के उल्लेख मिलते हैं।[७७] इतना ही नहीं, अपितु उस समय बाल्यावस्था में ही यदि किसी कन्या का वरण कर लिया जाता था तो उसे पतिकुल में तब तक कन्या के रूप में ही रखा जाता था, जब तक कि कन्या योवनावस्था को प्राप्त न कर ले।[७८] इससे स्पष्ट हो जाता है कि जैन-युग तक कन्या की विवाह-वय में पर्याप्त वृद्धि हो गई थी।

जहाँ तक वर की वय का प्रश्न है, इसे ठीक से नहीं कहा जा सकता है। कारण, पुरुष-वर्ग अपने जीवन में अनेक विवाह करते थे। प्रथम विवाह के अवसर पर वर बाल्यभाव को छोड़कर भोग करने की सामर्थ्य को प्राप्त कर लेता था। प्रथम विवाह के अनन्तर अन्य विवाह पुरुष-वर्ग करता ही रहता था। अतः कन्या के समान वर की विवाहवय को निश्चित करना सम्भव नहीं है।

वधू की योग्यता :

बौद्धागमों के अनुसार वही कन्या वधू के योग्य समझी जाती थी जो माता, पिता या दोनों से रक्षित न हो। इसके अतिरिक्त भाई, बहिन, ज्ञाति, गोत्र तथा धर्म से रक्षित न होने वाली कन्याएं भी वधू के योग्य होती थीं। पतियुक्त तथा सपरिदण्ड (जिनके साथ संभोग दण्ड-

७७. उम्मुक्कबालभावं····सरिव्वयाणं ··कन्नाणं पाणिं गिण्हाविंसु।

—नाया० १।१।२४

७८. देखिए—पुत्री, उद्ध० ४३

नीय हो) स्त्रियाँ तथा वे कन्याएं, जिनकी मंगनी हो जाती थी, वधू के योग्य नहीं मानी जाती थीं।[७९] वधू बनने के लिए कन्या को शीलवती होना भी आवश्यक था। शीलहीन कन्या को विवाह के बाद पतिकुल से हटा दिया जाता था।[८०]

जैनागम-काल तक उक्त योग्यताओं के अतिरिक्त सुन्दरता भी वधू बनने के लिए आवश्यक हो गई। ऐसी कन्याएँ जिनमें सौन्दर्य का अभाव रहता था, अविवाहित ही रह जाती थीं। वे कन्याएँ ही, जो शोभा, वय, त्वचा, लावण्य, रूप, यौवन आदि गुणों में वर के समान होती थीं, वधू बनाई जाती थीं। इसके साथ ही कन्या को अविधवा होना वधू बनने के लिए आवश्यक होता था।[८१]

वर की योग्यता :

जैसा कि अन्यत्र कहा जा चुका है,[८२] आगमकालीन समाज में शिल्प एवं कला का ज्ञान वर की प्रमुख योग्यता मानी जाती थी। कारण, तत्कालीन समाज में जीविकोपार्जन करना पुरुष-वर्ग का कर्त्तव्य था तथा उसे वही व्यक्ति कर सकता था जिसे शिल्पादि का ज्ञान होता था। शिल्पादि के ज्ञान से विहीन व्यक्ति जीविकोपार्जन कर स्त्री के भरण-पोषण में असमर्थ रहता था। अतः कन्या के माता-पिता अपनी कन्या को देने के पूर्व यह देख लिया करते थे कि जिसे कन्या दी जा रही है, वह शिल्पादि का ज्ञान रखता है या नहीं।[८३]

---

७९. या ता मातुरक्खिता पितुरक्खिता मातापितुरक्खिता, भातुरक्खिता भगिनी-भगिनिरक्खिता, ञातिरक्खिता, गोत्तरक्खिता, धम्मरक्खिता, सस्सामिका सपरिदण्डा, अन्तमसो मालागुळपरिरक्खितमापि, तथारूपासु चारित्तं आपज्जिता होति। एवं खो गहपतयो कायेन अधम्मचरियाविसमचरिया होति।
—मज्झिम० १।३५०; पारा० पृ०२००–२०५

८०. देखिए—पुत्री, उद्ध० ५६

८१. सरिसियाणं सरिव्वयाणं 'सरित्तयाणं''''अविहववहूओवयणमंगलसुजंपिएहिं'''
—नाया० १।१।२४

८२. देखिए—पृ० ३३–३४

८३. देखिए—पुत्री, उद्ध० ९२

जैनागम-काल में भी शिल्प एवं कला में विशारद होना वर के लिये आवश्यक था। इसी कारण माता-पिता अपने पुत्र का विवाह तभी करते थे, जब वे यह जान लेते थे कि उनका पुत्र जीविकोपार्जन के लिए आवश्यक कला आदि में निपुणता प्राप्त कर चुका है।[८४]

इसके विपरीत जुआरी होना वर की सबसे बड़ी अयोग्यता समझी जाती थी। जुआरी को कन्या न देने का प्रमुख कारण यह था कि उसमें पत्नी के भरण-पोषण की क्षमता नहीं रहती थी।[८५] फलतः जुआरी को कन्या देने से कन्या के साथ-साथ जुआरी जामाता के भरण-पोषण का भार भी कन्या के माता-पिताओं को वहन करना पड़ता था। इतना ही नहीं, अपितु जुआरी जामाता से यह शंका रहती थी कि कहीं वह अपनी पत्नी को जुए की बाजी पर न लगा दे।[८६]

शिष्टता एवं कुलीनता भी वर की योग्यता मानी जाती थी। जब सागर किसी से भी बिना कुछ कहे-सुने सुकुमालिका को छोड़कर भाग गया तो सागरदत्त (सुकुमालिका के पिता) ने जिनदत्त (सागर के पिता) से सागर के अकुलीन आचरण पर गम्भीर क्षोभ व्यक्त किया।[८७]

---

८४. तस्स मेहस्स अम्मापियरो मेहं कुमारं बावत्तरिकलापंडियं जाव वियालचारीं जायं····

—नाया० १।१।२३

८५. छ खो' मे, गहपति पुत्त, आदीनवा जूतप्पमादट्ठानानुयोगे····आवाहविवाह-कानं अपत्थितो होति—अक्खधुत्तो अयं पुरिसपुग्गलो नालं दारभरणाया' ति।

—दीघ० ३।१४१–१४२

८६ ····अक्खधुत्तो पठमेनेव कलिग्गहेन पुत्तं पि जीयेथ, दारं पि जीयेथ···

—मज्झिम० ३।२४०

८७. किन्नं···एयं जुत्तं वा पत्तं वा कुलाणुरूवं वा कुलसरिसं वा जण्णं सागरए दारए सूमालियं दारियं···विप्पजहाय इहमागए।

—नाया० १।१६।११७

विधि विधान :

बौद्धागमों में विवाह की विधि का उल्लेख नहीं मिलता है। पत्नी के विषय में प्राप्त उल्लेखों के आधार पर इतना कहा जा सकता है कि विवाह के निमित्त कन्या को माला पहनाई जाती थी।[८८] यह कृत्य मंगनी या सगाई के अवसर पर किया जाता था। कन्या को देते या लेते समय शुभ नक्षत्र का ध्यान अवश्य रखा जाता था कारण, उस समय यह धारणा थी कि शुभ नक्षत्र में दी गई कन्या की वृद्धि होती है।[८९]

जैनागमों में विवाह की विधि का विस्तृत वर्णन मिलता है। विवाह के निमित्त वर या कन्या-पक्ष के घर जाने के पूर्व कन्या या वर स्नान कर कौतुक, मंगल एवं प्रायश्चित्त सम्बन्धी कार्यों को सम्पन्न करता था। तत्पश्चात् सर्वालंकार से विभूषित कन्या या वर को शिबिका में बिठाकर परिवार एवं कुटुम्ब के सदस्य अपर-पक्ष के घर जाते थे। वहाँ वर एवं कन्या को एक ही पट्ट पर बिठाकर श्वेत एवं पीत कलशों से उनको स्नान कराया जाता था। तत्पश्चात् अग्निहोम कर वर कन्या का पाणिग्रहण करता था। विवाह सम्पन्न हो जाने के बाद आगन्तुक व्यक्तियों को भोजन कराकर यथायोग्य सम्मान के साथ विदा किया जाता था।[९०] इस प्रकार जैन-आगम-कालीन विवाह-पद्धति वैदिक-कालीन विवाह-पद्धति से अधिकांशतः साम्य रखती थी।

विवाह के उपरान्त वर-वधू को प्रीतिदान (दहेज) भी दिया जाता

८८. मालागुळपरिरक्खिता।

—पारा० २०१; मज्झिम० १।३५०

८९. देखिए—उद्ध० १४

९०. नाया० १।१४।१०१, १।१६।११५

९१. तुलना कीजिए :—

The bridegroom having caused the bride to mount a stone, formally grasped her hand, ane led her round the household fire.

—Vedic Index, 1.483–484

था। इसमें वर-वधू की जीवनोपयोगी वस्तुओं के अतिरिक्त सुवर्ण, हिरण्य आदि भी रहता था। विशेषता यह थी कि इस प्रकार का प्रीतिदान वर का पिता दिया करता था।[९२]

पुनर्विवाह :

आगमकालीन समाज में नारियों के पुनर्विवाह का प्रचलन आंशिक रूप से था। कारण, क्षत्रिय एवं ब्राह्मण-वर्गों में उक्त प्रचलन का पूर्णतया अभाव था, जबकि श्रेष्ठी एवं निम्न-वर्गों में वह पाया जाता था।

आगम-साहित्य में ऐसा एक भी उल्लेख प्राप्त नहीं होता जिसके आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सके कि क्षत्रिय एवं ब्राह्मण-वर्गों की स्त्रियां पति से विहीन होने पर पत्नी के रूप में द्वितीय पुरुष के पास जाती थीं। महागोविन्द ब्राह्मण ने प्रव्रज्या लेने के पूर्व अपनी चालीस पत्नियों में से प्रत्येक के लिए यह अधिकार दे दिया था कि यदि कोई पत्नी पर-पुरुष को अपना पति बनाना चाहे तो उसे (पर पुरुष को) खोज ले, किन्तु एक भी पत्नी ने इस अधिकार का उपयोग नहीं किया।[९३]

इस विषय पर जैनागम अन्तगडदसाओ एवं थेरीगाथा की अट्ठकथा के आधार पर लिखे ग्रन्थ में उपलब्ध निम्नोक्त दो उल्लेख और अधिक प्रकाश डालते हैं। प्रथम उल्लेख के अनुसार गजसुकुमाल की दीक्षा से, उसके विवाह के निमित्त लाई गई ब्राह्मण-कन्या सोमा के वैवाहिक जीवन की समाप्ति हो गई। जिसका स्मरण कर सोमिल ब्राह्मण ने क्रुद्ध होकर राजा की अनुजता का ख्याल न कर गजसुकुमाल की हत्या

---

९२. तए णं तस्स मेहस्स अम्मापियरो इमं एयारूवं पीइदाणं दलयंति....

—नाया० १।१।२४; अन्त० ३।६।२२; भगवतीसूत्र, ११।११।१८

९३. ...गच्छतु अञ्ञं वा भत्तारं परियेसतु। इच्छामहं, भोती, अगारस्मा अनगारियं पब्बजितुं।....त्वञ्ञेव नो ञाति ञातिकामानं, त्वं पन भत्ता भत्तुकामानं।....मयं पि अगारस्मा अनगारियं पब्बजिस्साम।

—दीघ० २।१८५

कर दी।[९४] द्वितीय उल्लेख के अनुसार अभिरूपा नन्दा को उसकी इच्छा के विरुद्ध केवल इसलिए प्रव्रज्या लेने के लिए विवश किया गया क्योंकि शाक्यकुमार चरभूत, जिसके साथ उसका विवाह होना था, मर गया था।[९५]

उक्त उल्लेखों से यह स्पष्ट हो जाता है कि आगम-कालीन क्षत्रिय एवं ब्राह्मण-वर्गों में न केवल विवाहित स्त्रियों का ही पुनर्विवाह निषिद्ध था, अपितु ऐसी कन्याओं का भी विवाह निषिद्ध था जिनकी मंगनी हो जाने के उपरान्त भावी पति संसार त्याग देता था। यही कारण है कि राजपुत्रों के साथ विवाह के लिए लाई गई कन्याओं को अविधवा होना आवश्यक था।[९६]

इसके विपरीत श्रेष्ठी एवं निम्न-वर्गों में स्त्रियों के पुनर्विवाह के सम्बन्ध में उल्लेख मिलते हैं। एक उल्लेख के अनुसार जब प्रव्रजित होने के पूर्व उग्र गृहपति ने महागोविन्द ब्राह्मण की तरह अपनी चार कुमारी-पत्नियों के लिए अन्य पति प्राप्त करने का अधिकार दिया, तो उस गृहपति की बड़ी पत्नी ने उस अधिकार का पूरा उपयोग किया।[९७] श्रेष्ठिपुत्री ऋषिदासी को जब पतिगृह से लौटा दिया गया, तो उसे द्वितीय पुरुष के लिए पत्नी के रूप में दिया गया। द्वितीय पतिकुल से भी लौटायी जाने पर उसका विवाह एक दरिद्र व्यक्ति से कर दिया गया।[९८] इसी प्रकार जब सुकुमालिका का पति उसको छोड़-कर भाग गया तो एक दूसरे व्यक्ति को उसके पति के रूप में रख लिया गया।[९९] मिलिन्दपञ्ह में प्राप्त उल्लेख से निम्न-वर्गों में स्त्रियों

---

९४. देखिए—पुत्री, उद्ध० ४३, ६६

९५. देखिए—पुत्री, उद्ध० ३२

९६. देखिए—उद्ध० ८१

९७. ···· होति वा पुरिसाधिप्पायो, कस्स वो दम्मीति'? एवं वुत्ते····जेट्ठा पजापति मं एतदवोच—'इत्थन्नामस्स मं अय्यपुत्त, पुरिसस्स देही'ति।····
—अंगुत्तर० ३।३१६

९८. थेरी० १५।१।४०८, ४२२, ४२४

९९. नाया० १।१६।११७

के पुनर्विवाह की जानकारी प्राप्त होती है।[१००] यह बात दूसरी है कि कन्या के प्रथम विवाह के अवसर पर जो उत्साह, सम्मान एवं विधि-विधान दृष्टिगोचर होते थे, वे उस रूप में कन्या के द्वितीय विवाह के अवसर पर नहीं पाये जाते थे।

यहां यह स्पष्ट कर देना अनुचित न होगा कि श्रेष्ठी एवं निम्न-वर्ग की स्त्रियों के पुनर्विवाह तब तक होते थे, जब तक कि उनको सन्तान प्राप्त न हो जाय। सन्तान-प्राप्ति के अनन्तर इन वर्गों की भी स्त्रियों में पुनर्विवाह की प्रवृत्ति नहीं पाई जाती थी।[१०१]

विवाह-विच्छेद :

दीघनिकाय में 'विवदन' शब्द उपलब्ध होता है[१०२] जिसका तात्पर्य है कि यदि अलग होना चाहते हो तो आज ही हो जाओ। आज अलग होने से फिर मिलाप नहीं होगा।[१०३] अतः इस 'विवदन' शब्द को 'तलाक' सूचक पद कहा जा सकता है।

पुनर्विवाह की तरह विवाह-विच्छेद का भी प्रचलन श्रेष्ठी तथा निम्न-वर्गों में ही दृष्टिगोचर होता था। श्रेष्ठी की पुत्री ऋषिदासी का तीन बार विवाह किया गया था तथा तीनों ही बार उसे तलाक दिया गया।[१०४] इसी प्रकार सागर नामक जिनदत्त का पुत्र सुकुमालिका

---

१००. देखिए—पुत्री, उद्ध० ४८

१०१. अंगुत्तर० ३।१७; थेरी० १३।३।३०७

१०२. दीघ० १।१२

१०३. विवदननाम सचे वियुज्जितुकामो अत्थ अज्जेव वियुज्जथ इति वो पुन सम्पयोगो न भविस्सती'ति एवं वियोगकरणं।

—सुम० १।९६

१०४. (क) ते मं पितुघरं पटिनयिंसु विमना दुखेन अधिभूता।

—थेरी० १५।१।४२१

(ख) अथ सो पि मं पटिच्छरयि।

वही, १५।१।४२३

(ग) सो पि वसित्वा पक्खं अथ तातं भणति 'देहि मे पोट्ठिं।
घटिकं च मल्लिकं च पुन पि भिक्खं चरिस्सामि'॥

वही, १५।१।४२५

को छोड़कर अपने घर वापस आ गया था। तत्पश्चात् सुकुमालिका के पति के रूप में एक कृपण को रखा गया किन्तु वह भी सुकुमालिका को त्याग कर भाग गया।[१०५]

तलाक देने पर गृहस्वामी अपनी पुत्रवधू को उसके पितृ-कुल में छोड़ आता था। गृह-जामाता के रूप में रहने वाला व्यक्ति अपनी पत्नी को छोड़ कर ससुराल से चला जाता था।

जिस प्रकार पुरुष-वर्ग अपनी पत्नी को तलाक दे देता था, उसी प्रकार स्त्रियाँ अपने पति से विवाह-सम्बन्ध विच्छिन्न करने में असमर्थ रहती थीं। कारण, तत्कालीन समाज में पत्नी पर पति का पूर्णाधिकार-सा रहा करता था। पत्नी एक प्रकार से पति की सम्पत्ति रहा करती थी। अतः सामाजिक एवं राजनीतिक दृष्टि से पति को छोड़ना पत्नी के लिए सरल नहीं था।

किन्तु यदि कोई स्त्री अपने पति से पूर्णतया असंतुष्ट रहती थी तो वह पति को त्यागने के लिए भिक्षुणी-संघ में प्रविष्ट हो जाती थी। कारण, एक तो पत्नी को भिक्षुणी बनने के लिए सरलता से पति की स्वीकृति प्राप्त हो जाती थी, दूसरे भिक्षुणी बन जाने के बाद स्त्री पर पति का कोई अधिकार नहीं रहता था। मुक्ता थेरी अपने कुबड़े पति से असन्तुष्ट होने के कारण भिक्षुणी बनी थी।[१०६] पोट्टिला पति के उपेक्षित व्यवहार से असन्तुष्ट होकर प्रव्रजित हुई थी।[१०७]

---

१०५. तए णं सागरदारए सूमालियं दारियं सुहपसुत्तं जाणित्ता''''जामेव दिसिं पाउब्भूए तामेव दिसिं पडिगए।

—नाया० १।१६।११६

१०६. सुमुत्ता साधुमुत्ताम्हि, तीहि खुज्जेहि मुत्तिया।
उदुक्खलेन मुसलेन, पतिना खुज्जकेन च॥

—थेरी० १।११।११

१०७. एवं खलु अहं तेयलिपुत्तस्स पुव्विं इट्ठा ५ आसि इयाणिं अणिट्ठा ५ जाव परिभोगं वा। तं सेयं खलु ममं सुव्वयाणं अज्जाणं अंतिए पव्वइत्तए।

—नाया० १।१४।१०५

बहुपतित्व एवं बहुपत्नीत्व प्रथा :

बहुपतित्व-प्रथा का प्रचलन भारतीय समाज में वैदिक-काल से ही नहीं था। बौद्ध एवं जैन-आगमों के अध्ययन से भी यह ज्ञात होता है कि उस समय बहुपतित्व प्रथा का अभाव था। यद्यपि नायाधम्मकहाओ में[१०८] द्रौपदी द्वारा पाँच पाण्डवों को पति के रूप में वरण किये जाने का उल्लेख है, किन्तु इसके आधार पर आगम-कालीन समाज के विषय में कोई निष्कर्ष निकालना उचित नहीं होगा। कारण, द्रौपदी एवं पाण्डवों के कथानक का प्रमुख आधार महाभारत है।

इसके विपरीत बहुपत्नीत्व-प्रथा का काफी प्रचलन था। बौद्ध-आगमों में प्राप्त उल्लेखों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्रारम्भ में ब्राह्मण-वर्ग अधिक पत्नियाँ रखता था।[१०९] कालान्तर में बहुपत्नीत्व-प्रथा का प्रचलन मुख्य रूप से राजा एवं वैभव-सम्पन्न श्रेष्ठिवर्ग तक ही सीमित हो गया। राजा न केवल बाल्यभाव से उन्मुक्त राजपुत्र की अवस्था में ही अनेक कन्याओं के साथ विवाह करता था अपितु उसके बाद भी सुन्दर कन्याओं को प्राप्त करने में सदैव प्रयत्नशील रहता था। इसके विपरीत श्रेष्ठिपुत्र प्रथम बार ही अनेक कन्याओं के साथ विवाह करते थे। उसके बाद उनमें दूसरी बार विवाह नहीं किया जाता था।

विवाह एवं नारी :

बौद्ध-युग में विवाह को विशुद्ध पारिवारिक-कृत्य के रूप में मान्यता मिल जाने से उसका धार्मिक महत्त्व समाप्त हो गया। फलतः अनेक नव-

१०८. वही, १।१६।१२५

१०९. (क) एवं सु ते वेठकनतपस्साहि नारीहि परिचारेन्ति····

—दीघ० १।९१

(ख) इमे खो ब्राह्मणा नाम इत्थिलुद्धा; यन्नून मयं महागोविन्दं ब्राह्मणं इत्थीहि सिक्खेय्यामाति

वही, २।१८२

(ग) देखिए—उद्ध० ३५

विवाहित कुलपुत्रों ने सांसारिक जीवन त्यागकर भिक्षु-जीवन में प्रवेश किया। इसका प्रमुख कारण यह था कि धर्मप्रधान वातावरण से प्रभावित कुलपुत्र पारिवारिक (वैवाहिक) जीवन का त्यागकर धार्मिक जीवन में प्रवेश को अधिक महत्त्व देते थे। अतः बौद्ध-युग में विवाह नववधुओं के लिए अभिशाप बन गया था। नववधू, पति एवं पतिकुल के वातावरण से परिचित भी नहीं हो पाती थी कि उसके पति को भिक्षु बना लिया जाता था। जब इस प्रकार से मगध के प्रसिद्ध कुलों के पुत्रों को भिक्षु बना लिया गया तो समाज के लोगों में इस (भिक्षु बनाने की) प्रवृत्ति की निन्दा की जाने लगी।[११०] यद्यपि जैन-युग तक इस प्रकार भिक्षु बनाने की प्रवृत्ति का ह्रास हुआ तथापि उस समय भी नवविवाहित कुलपुत्रों एवं राजपुत्रों में सांसारिक-जीवन त्याग कर भिक्षु बनने की प्रवृत्ति देखी जाती थी।

तात्पर्य यह कि धार्मिक महत्त्व से विहीन विवाह से समाज में अनेक संकट आने लगे थे तथा इन संकटों को मुख्य रूप से नारी-वर्ग को ही सहन करना पड़ता था।

●

११०. तेन खो पन समयेन····मनुस्सा उज्झायन्ति···समणो गोतमो, वेधव्याय पटिपन्नो····

—महावग्ग, पृ० ४१

वैवाहिक-जीवन

पुत्रवधू

वैदिक-कालीन स्थिति

उत्तर-वैदिक-कालीन स्थिति

आगम-काल में सास-ससुर का नियन्त्रण

ससुर-कुल-योग्य कर्त्तव्य

सास-ससुर को यातना

बुद्धि के आधार पर ज्येष्ठत्व

गृहपत्नी

वैदिक-कालीन स्थिति

उत्तर-वैदिक-कालीन स्थिति

आगम-कालीन स्थिति

पति-पत्नी के पारस्परिक कर्त्तव्य

पत्नी के भेद

पत्नी पर पति का प्रभुत्व

पति पर पत्नी का प्रभुत्व

दाम्पत्य-सम्बन्ध

सपत्नीकृत उत्पात

गृह पत्नी एवं परिवार

गृहपत्नी एवं समाज

जननी

वैदिक-कालीन स्थिति

उत्तर-वैदिक-कालीन स्थिति

आगम-कालीन स्थिति

जननी की ममता

मातृत्व की लालसा

मातृ-वध

मातृ-सेवा

माता की सम्पत्ति एवं प्रभुता

जननी तथा बौद्ध एवं जैनधर्म

विधवा

वैदिक-कालीन स्थिति

उत्तर-वैदिक-कालीन स्थिति

आगम-कालीन स्थिति

सामाजिक स्थिति

सती-प्रथा एवं उसका आगमों में अभाव

जीवन-यापन के साधन

पुनर्विवाह

●

: ३ : वैवाहिक-जीवन

पुत्रवधू

नारी पतिकुल में प्रायः पुत्रवधू के रूप में ही पदार्पण करती थी। पुत्रवधू की ही अवस्था में वह पतिकुल में कर्त्तव्यनिष्ठा एवं मधुर-व्यवहार का परिचय देकर प्रतिष्ठा अर्जित करती थी, जिसके लिए परिवार के सभी सदस्यों, विशेषरूप से सास एवं ससुर का सम्मान करना आवश्यक होता था। प्रतिष्ठा अर्जित कर लेने के उपरान्त पुत्रवधू को पतिकुल की प्रभुतापूर्ण सदस्यता प्राप्त हो जाती थी।

वैदिक-कालीन स्थिति :

वैदिक-कालीन परिवार में पुत्रवधू को सम्मान-पूर्ण स्थान दिया जाता था। उसे विवाह के अवसर पर यह आशीर्वाद दिया जाता था कि वह सास, ससुर, ननद एवं देवरों की स्वामिनी हो।[1] इस प्रकार तत्कालीन समाज में पुत्रवधू को ससुराल की स्वामिनी के रूप में मान्यता प्राप्त थी। पुत्रवधू को ससुर के लिए सहायक एवं सास के प्रति दयालु बनने का भी आशीर्वाद दिया जाता था।[2]

पुत्रवधू को उक्त स्वामित्व उन परिवारों में प्राप्त होता था जिनमें वह बड़े पुत्र की पत्नी बनकर प्रथम पुत्रवधू के रूप में जाती थी तथा

---

१. सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव।
ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधिदेवृषु ॥

—ऋग्वेद० १०।८५।४६

२. सुमङ्गली प्रतरणी गृहाणां सुशेवा पत्ये श्वशुराय शंभूः।
स्योना श्वश्र्वै प्र गृहान्विशेमान्।

—अथर्व० १४।२।२६

अविवाहित ननद-देवरों के बीच में रहती थी। ऐसे परिवारों में पुत्रवधू को सम्मान मिलना स्वाभाविक ही था।[३]

किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वधू के आ जाने पर उसके सास एवं ससुर की प्रभुता में अन्तर आ जाता था। वस्तुतः सास एवं ससुर ही परिवार के स्वामी होते थे तथा पुत्रवधू उनके स्वामित्व की छाया में ही सहर्ष जीवन व्यतीत करती थी। सास एवं ससुर के प्रति वधू के सम्मानपूर्ण सद्-व्यवहार एवं विनय-भाव के उल्लेख अनेक स्थलों पर उपलब्ध होते हैं।[४]

उत्तर-वैदिक-कालीन स्थिति :

कालान्तर में नारी की अवस्था में उत्तरोत्तर ह्रास के साथ-साथ पुत्रवधू को मिलने वाले सम्मान का भी ह्रास होता गया। सूत्रकाल में अल्पायु में ही कन्याओं का विवाह होने लगा।[५] उस समय जब कन्याएँ पुत्रवधू बनकर ससुराल जाती थीं, नितान्त अबोध रहती थीं। फलस्वरूप ससुराल में उन पर सास एवं ससुर का कठोर नियन्त्रण रखा जाने लगा।

आगम-काल में सास-ससुर का नियन्त्रण :

बौद्ध-युग में सूत्र-काल में निहित पुत्रवधुओं की अवस्था में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। बौद्धागमों में प्राप्त उल्लेखों के आधार पर यह ज्ञात होता है कि उस समय वधू सास-ससुर के कठोर नियन्त्रण में अपना जीवनयापन करती थी। जब कोई कुलपुत्र प्रव्रज्या लेने की

---

३. Vedic Index, 1. 484–485

४. (क) ये सूर्यात्परिसर्पन्ति स्नुषेव श्वशुरादधि।

—अथर्व० ८।६।२४

(ख) अस्य स्नुषा श्वशुरस्य प्रविष्टिम्····
····स्नुषा सपत्नाः श्वशुरो यमस्तु····

—तै० ब्रा० २।४।६।१२

५. देखिए—पुत्री, उद्ध० २०

इच्छा व्यक्त करता था तो उसके माता-पिता उसे समझाते थे[६] किन्तु परिवार में पुत्रवधू के रूप में रहने वाली उसकी पत्नी उसे रोकने के लिए प्रयास नहीं करती थी। इतना ही नहीं, अपितु प्राप्त उल्लेखों के आधार पर यह भी ज्ञात होता है कि पुत्रवधू प्रव्रज्या के लिए जाते समय पति से बात भी नहीं करती थी। इसका यह अर्थ नहीं कि पुत्रवधू को अपने पति की प्रव्रज्यासम्बन्धी इच्छा के समाचार पर दुःख नहीं होता था या वह प्रव्रज्या के इच्छुक पति से बात भी नहीं करना चाहती थी, अपितु अपने सास-ससुर के भारी नियन्त्रण के कारण पुत्रवधू न तो अपना दुःख प्रकट कर पाती थी और न ही जाते हुए पति से दो बातें ही कर पाती थी। इसके अतिरिक्त यदि प्रव्रजित कुलपुत्र संयोगवश अपने पुराने घर के सामने से निकलता था एवं कुलदासी किसी प्रकार उसको पहचान लेती थी तो वह दासी कुलपुत्र के आगमन का समाचार कुलपुत्र की पत्नी को न देकर उसकी माता को सुनाती थी तथा माता के द्वारा वह समाचार उसके पिता के पास पहुँचता था तथा पिता कुलपुत्र के पास जा कर उसे दूसरे दिन के भोजन का निमन्त्रण देता था।[७] जब पुत्र निमन्त्रण स्वीकार कर आता था तो पिता उसे मनाने का असफल प्रयास करता था। तत्पश्चात् कुलवधू जो कि सास के आदेशानुसार

---

६. (क) अथ खो····मातापितरो····एतदवोचुं—त्वं खोसि, तात····अम्हाकं एकपुत्तको····किं पन मयं तं जीवन्तं अनुजानिस्साम अगारस्मा अनगारियं पब्बज्जाय ?

—पारा० पृ० १७ तथा मज्झिम० २।२८३

(ख) तए णं तं····अम्मापियरो एवं वयासी···तओ पच्छा पव्वइस्ससि...

—नाया० १।१।२८

७. अथ खो····ञातिदासी···हत्थानं च पादानं च सरस्स च निमित्तं अग्गहेसि। ····मातरं एतदवोच—यग्घेय्ये, जानेय्यासि—अय्यपुत्तो····अनुप्पत्तो। ····अथ खो····माता····पितरं एतदवोच—"यग्घे, गहपति···कुलपुत्तो अनुप्पत्तो····तेन हि, तात····अधिवासेहि स्वातनाय भत्तं" ति।

—मज्झिम० ३।२८७–२८८; पारा० पृ० १९–२०

पति के प्रिय अलंकारों से अलंकृत रहती थी,[८] ससुर के कहने पर[९] अपने पति के चरणों को पकड़, उसे मनाने का अभिनय-सा करती थी। नियन्त्रित वधू में इतना साहस नहीं था कि वह स्वतः पति से कुछ कह-सुन सके।

आर्य सुदिन्न जब अपने माता-पिता एवं पत्नी के घर लौट आने के अनुरोध को ठुकरा कर चला गया, तो सुदिन्न की माता ने अपनी पुत्रवधू से पुष्पवती होने पर सूचना देने के लिए कहा। उचित समय पर सूचना पाकर, पुत्र के प्रिय अलंकारों से अलंकृत कराकर पुत्रवधू को वह आर्य सुदिन्न के पास ले गई तथा आर्य सुदिन्न से उसने कुल की सम्पत्ति की रक्षा के निमित्त पत्नी को बीजक (गर्भ) देने का अनुरोध किया। बीजक-प्राप्ति के उपरान्त पुत्रवधू सुदिन्न की माता के साथ लौट आई।[१०]

उक्त प्रसंग से यह स्पष्ट हो जाता है कि बौद्ध-युग में बिना 'ननु', 'नच' किये अपने सास-ससुर की आज्ञा के अनुसार ही पुत्रवधू प्रत्येक कार्य करती थी, अर्थात् सास एवं ससुर की आज्ञा पर पुत्रवधू कठपुतली की भाँति चला करती थी। उसमें इतनी निर्भीकता नहीं रह गई थी कि अपने स्वाभिमान या अपनी इच्छा को किसी के सम्मुख रख सके।

---

८. अथ खो····माता····पुराणदुतियिकं आमन्तेसि····तेन हि वधु, येन अलङ्कारेन अलङ्कता पुत्तस्स मे सुदिन्नस्स पिया अहोसि मनापा तेन अलङ्कारेन अलङ्कारा' ति।
—पारा० पृ० २०; मज्झिम० २।२८८

९. अथ खो····पिता····पुराणदुतियिकं आमन्तेसि तेन हि, वधु, त्वं पिया च मनापा च। अप्पेव नाम तुम्हं पिवचनं करेय्या' ति।
—पारा० पृ० २०; मज्झिम० २।२८८

१०. तेन हि, वधु, यदा उतुनी अहोसि, पुप्फं ते उप्पन्नं होति, अथ मे आरोचेय्यासि····पुराणदुतियिका····मातरं एतदवोच····उतुनीम्हि, अय्ये, पुप्फं उप्पन्नं। ····अथ खो····माता····पुराणदुतियिकं····आदाय····येन····सुदिन्नो तेनुपसङ्कमि····।
—पारा० पृ० २२–२३

यद्यपि बौद्धधर्म के विकास के साथ ही नारी की दयनीय-अवस्था में पर्याप्त सुधार हुआ था किन्तु उस सुधार में नियन्त्रित पुत्रवधू सम्मिलित नहीं हो सकी । इसका प्रमुख कारण यह था कि जिस प्रकार पुत्री, गृहपत्नी, विधवा आदि नारी-वर्ग को धर्माचरण करने की अनुमति एवं सुविधाएँ मिल जाती थीं, उस प्रकार की अनुमति एवं सुविधाएँ बहुत कम पुत्रवधुओं को उपलब्ध होती थीं ।[११] अधिकांश वधुओं को बिना अनुमति के कार्य करने पर सास या ससुर द्वारा दिया गया कठोर दण्ड भोगना पड़ता था । यदि वधू धार्मिक भावना से ओतप्रोत होकर आये हुए श्रमण को भी बिना सास-ससुर की अनुमति के कोई वस्तु दान में दे देती थी, तो वह भी वधू का गम्भीर अपराध माना जाता था । एक पुत्रवधू ने श्रमण को अपनी इच्छा से रोटी दे दी । जब यह बात सास को मालूम हुई तो उसने वधू को फटकारा कि तू अविनीत है क्योंकि श्रमण को रोटी देते समय तुझे मुझसे पूछने की इच्छा नहीं हुई, आदि । तदुपरान्त उसने मूसल से वधू को ऐसा मारा कि बेचारी वधू मर गई ।[१२] इसी प्रकार एक पुत्रवधू ने आये हुए भिक्षु को इक्षु दे दिया जिस पर उसकी सास ने क्रोधित होकर उसे मिट्टी के ढेले से मारकर उसकी जीवनलीला समाप्त कर दी ।[१३] सास के क्रोधित होने का कारण यह था कि वधू ने अपने मन से इक्षु-दान कर के उसकी प्रभुसत्ता में

---

११. विमा० १।३१।३०६–३१३

१२. इतिस्सा सस्सु परिभासि अविनीतासि त्वं वधू ।
न मं सम्पुच्छितुं इच्छि, समणस्स ददामहं ॥
ततो मे सस्सु कुपिता पहासि मुसलेन मं ।
कूटङ्गच्छि अवधि मं नासक्खिं जीवितुं चिरं ॥

—विमा० १।२९।२९२–२९३

१३. लेड्डुं गहेत्वा पहारं अदासि मे
ततो चुता काल कतास्मि देवता ।

—विमा० १।४८।८१३

हस्तक्षेप किया था।[१४] कहने का आशय यह है कि बौद्ध-युग में वधू बिना सास-ससुर की अनुमति के कोई भी कार्य नहीं कर सकती थी। यदि वधू को कोई उत्तम कार्य भी सम्पन्न करना होता था, तब भी उसके लिए सास-ससुर की अनुमति प्राप्त करना आवश्यक होता था। कारण, सास-ससुर से बिना पूछे किया गया अच्छे से अच्छा कार्य भी पुत्रवधू का गुरुतम अपराध माना जाता था तथा उसके दण्ड-स्वरूप वधू को अपने प्राण भी खोने पड़ते थे।

कुलवधू पर उसके पति की अपेक्षा ससुर का अधिक अधिकार होता था। कभी-कभी वधू के रूप में लाई गई नारी से दासी का काम लिया जाता था।[१५] यद्यपि ससुर द्वारा वधू का दासीरूप से उपयोग किये जाने का विरोध भी होता था किन्तु वह विरोध सफल नहीं हो पाता था।[१६] यही कारण था कि वधू ससुर को देखकर भयभीत हो जाती थी।[१७] जैनागम में आये एक उल्लेख से उक्त तथ्य पर और अधिक प्रकाश पड़ता है। उल्लेख के अनुसार एक वधू ने अन्यमनस्क होने से ससुर की उपस्थिति में भोजन परोसते समय थोड़ी-सी त्रुटि कर दी थी जिसके फलस्वरूप उसपर पर-पुरुष में आसक्त होने की शंका के दण्डस्वरूप उसको घर से निकाल दिया गया था।[१८]

---

१४. तुय्हं न्विदं इस्सरियं अथो मम,
इतिस्सा सस्सु परिभासते मम।

—वही

१५. अथ खो ते आजीवकसावका तं कुमारिकं नेत्वा मासं येव सुणिसभोगेन भुञ्जिसु। ततो अपरेन दासिभोगेन भुञ्जन्ति।

—पारा० पृ० १९६

१६. माय्यो, इमं कुमारिकं दासिभोगेन भुञ्जित्थ····गच्छ....त्वं न मयं तं जानामा'ति।

—वही, पृ० १९६–१९७

१७. सुणिसा ससुरं दिस्वा संविज्जति संवेगं आपज्जति।

—मज्झिम० १।२३७

१८. (क) समणं पि दट्ठुदासीणं तत्थवि ताव एगे कुप्पंति।
अदुवा भोयणेहिं नत्थेहिं इत्थीदोसं संकिणो होंति।।

—सूय० १।४।१।१५

ससुर-कुल योग्य कर्त्तव्य :

यद्यपि आगम-कालीन समाज में ससुर का वधू के ऊपर नियन्त्रण रहता था तथापि उन वधुओं पर, जो ससुराल में आज्ञाकारिणी एवं विनयशील होकर अपनी कर्त्तव्यनिष्ठा प्रदर्शित करती थीं, वैसा कठोर नियन्त्रण नहीं होता था। अतः पितृ-कुल में ही कन्याओं को पतिकुल के अनुरूप आचार-विचार की शिक्षा दी जाती थी।[19] इस प्रकार की शिक्षा का प्रधान उद्देश्य सास एवं ससुर को अपने अनुकूल बनाना था। अतः पुत्रवधू को प्रातः उठकर सास-ससुर को प्रणाम कर उनके चरणों की रज को मस्तक पर धारण करना, उनके सोने के अनन्तर सोना, उठने के पूर्व ही उठना, भृत्य के समान उनकी आज्ञाओं का पालन करना, उनके साथ मधुर-भाषण एवं आचरण करना आवश्यक था।[20] किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि सास-ससुर को छोड़कर ससुराल के अन्य सदस्यों के प्रति वधू अपना स्वामित्व प्रदर्शित करे। वधू से यह अपेक्षा की जाती थी कि वह सास-ससुर के जीवन-काल में परिवार के सभी सदस्यों के प्रति स्वामित्व-प्रदर्शन की भावना का पूर्णतया त्याग कर यथायोग्य सत्कार-सम्मान प्रदर्शित करे।[21] परिवार के छोटा-से-

---

(ख) निदर्शनमत्र यथा—कयाचिद्वध्वा ग्राममध्यप्रारब्धनटप्रेक्षणैकगतचित्तया पतिश्वशुरयोर्भोजनार्थमुपविष्टयोस्तण्डुला इति कृत्वा राइकाः संस्कृत्य दत्ताः, ततोऽसौ श्वशुरेणोपलक्षिता, निजपतिना क्रुद्धेन ताडिता, अन्यपुरुषगतचित्तेत्याशङ्क्य स्वगृहान्निर्घाटिता।

—सू० टी० भा० २, पृ० १२८

१९. देखिए—पृ० ३४

२०. (क) देखिए—पुत्रा, उद्ध० ९८

(ख) यस्स वो मातापितरो भत्तुनो····तस्स पुब्बुट्ठायिनियो पच्छानिपातिनियो किङ्कारपटिस्साविनियो मनापचारिनियो पियवादिनियो····

—अंगुत्तर० २।३०३

२१. या मय्हं सामिकस्स, भगिनियो भातुनो परिजनो वा।
तमेकवरकं पि दिस्वा, उब्बिग्गा आसनं देमि॥

—थेरी० १५।२।४१०

छोटा कार्य करना पुत्रवधू की कुल के प्रति कर्त्तव्यनिष्ठा का परिचायक था।[२२] इस प्रकार के आचरण से पुत्रवधू सास-ससुर का असीमित स्नेह सहज ही में प्राप्त कर लेती थी। ऋषिदासी ने इसी प्रकार का आचरण कर ससुर के हृदय को जीत लिया था। अतः पुत्र के हठ के कारण ऋषिदासी का ससुर उसे उसके पितृ-कुल में छोड़ते समय बड़ा दुःखी था।[२३]

सास-ससुर के अनुकूल आचरण करने वाली पुत्रवधू को किसी पारिवारिक दुर्भाग्य का सामना नहीं करना पड़ता था। यद्यपि कुलपुत्र के प्रव्रजित होने से वधू पर दुःख का पहाड़ टूटता था किन्तु उस अवस्था में भी वधू को अपने भरण-पोषण की चिन्ता नहीं सताती थी। समर्थ ससुर के संरक्षण में वह बिना किसी बाधा के अपना जीवन व्यतीत कर लेती थी। यही कारण है कि जैनागम में एक स्थल पर स्त्रियों के भेदों में एक भेद ससुर-कुल से रक्षित स्त्रियों का भी है।[२४]

इसके अतिरिक्त पति के साथ रहनेवाली पुत्रवधू को भी यह आशंका नहीं रहती थी कि आवश्यकता पड़ने पर पति उसका अनुचित उपयोग कर सकता है। कारण, ससुर इस बात से सतर्क रहता था कि कहीं किसी कार्य से कुल की मर्यादा भंग न हो जाये। इस बात के संकेत तो मिलते ही हैं कि जुआरी पति अपनी पत्नी को भी जुए की बाजी पर लगा देता था[२५] किन्तु ऐसा एक भी उल्लेख नहीं मिलता है जिससे यह कहा जा सके कि ससुर की उपस्थिति में पुत्रवधू अपने पति द्वारा जुए के

२२. सयमेव ओदनं साधयामि, सयमेव भाजनं धोवन्ती।

—वही, १५।१।४१४

२३. ते मं पितुघरं पटिनयिंसु, विमना दुखेन अधिभूता।
पुत्तमनुरक्खमाना, जिताम्हसे रूपिनिं लक्खि॥

—वही, १५।१।४२१

२४. तं जहा—अंतो....ससुरकुलरक्खियाओ....

—औ० सू० १६७

२५. देखिए—विवाह, उद्ध० ८६

दाव पर लगाई गई हो या ताड़ित होकर घर से निकाली गई हो। कभी-कभी ससुर, पुत्र के माध्यम से पुत्रवधुओं के लिए आवश्यक जीवनोपयोगी वस्तुएँ भी प्रीति-दान के रूप में दिया करता था।[२६]

सास-ससुर को यातना :

पुत्रवधू द्वारा सास-ससुर को भी यातना देने के उल्लेख मिलते हैं। एकबार चार पुत्रों ने अपनी पत्नियों के कहने पर पिता को घर से निकाल दिया था।[२७] इसी प्रकार एक स्त्री कहती है कि 'जब तक मैं घर में थी मेरी वधू वन्ध्या थी, किन्तु जब उसने मुझे मार कर घर से निकाल दिया तो उसके पुत्र उत्पन्न हुआ। इस समय वधू कुल की स्वामिनी बनी हुई है तथा मैं बाहर अकेली मारी-मारी फिर रही हूँ।'[२८] इस कथन का स्पष्टीकरण करते हुए टीका-साहित्य में बताया गया है कि एक स्त्री अपने पुत्र एवं पुत्रवधू के साथ रहती थी। पुत्रवधू ने अपनी सास को मारकर घर से निकाल दिया। तदुपरान्त वधू के सन्तानोत्पत्ति हुई। अतः वधू ने यह प्रचार करना शुरू कर दिया था कि जब तक मेरी सास घर में रही, मैं वन्ध्या बनी रही। उसको घर से निकालने के बाद मुझे सन्तान हुई[२९]। अपनी पुत्रवधू के उक्त प्रचार को सुनकर ही सास ने पूर्वकथित उद्गार व्यक्त किये थे।

२६. तए णं तस्स मेहस्स अम्मापियरो इमं एयारूवं पीइदाणं दलयंति····तए णं मेहे कुमारे एगमेगाए भारियाए····परिभाएउं दलयइ।

—नाया० १।१।२४

२७. इध मे, भो गोतम, चत्तारो पुत्ता। ते मं दारेहि संपुच्छ घरा निक्खामेन्ती'ति।

—संयुत्त० १।१७५

२८. सुणिसा हि मय्हं वञ्झा अहोसि,
सा मं वधित्वान विजायि पुत्तं।
सा दानि सब्बस्स कुलस्स इस्सरा,
अहं पनम्हि अपविद्धा एकिका॥

—जातक ८।४१७।५

२९. जा० २।४१७

किन्तु सास एवं ससुर को यातना देकर वधू परिवार में अपना स्वामित्व विशेष परिस्थिति में ही स्थापित कर पाती थी। जब तक सास एवं ससुर दोनों ही रहते थे, परिवार के शासन की बागडोर उन्हीं के हाथ में रहती थी। कारण, परिवार के आन्तरिक कार्यों पर सास एवं बाह्य कार्यों पर ससुर द्वारा कड़ी दृष्टि रखी जाती थी। उनमें से किसी एक के चले जाने पर दूसरे के शासन में दुर्बलता आ जाती थी तथा उसी दुर्बलता के कारण कभी-कभी यातनाएं भी भोगनी पड़ती थीं। सास-ससुर को दी गई इस प्रकार की यातना-प्रधान घटनाएं तत्कालीन-समाज की सामान्य-प्रवृत्ति नहीं थी। यही कारण है कि आगम-साहित्य में सास एवं ससुर द्वारा वधू को दी जाने वाली यातनाओं का ही अधिक वर्णन मिलता है।

बुद्धि के आधार पर ज्येष्ठत्व :

जब परिवार में एक से अधिक पुत्रवधुएँ हुआ करती थीं तो उनके कार्यों का विभाजन ज्येष्ठत्व के आधार पर न होकर बुद्धि के आधार पर होने के भी उदाहरण मिलते हैं। रोहिणी की कथा[३०] इस विषय पर विस्तृत प्रकाश डालती है। कथानक के अनुसार धन्ना सार्थवाह के चार पुत्रवधुएँ थीं। सार्थवाह ने वधुओं के कार्यविभाजन का विचार कर उनकी परीक्षा लेने का निश्चय किया तथा सभी पुत्र-वधुओं को बुलाकर पाँच-पाँच शालिकण यह कह कर दिये कि वे कण माँगने पर लौटाये जायँ[३१]। सबसे बड़ी पुत्रवधू ने इस विचार से उन कणों को फेंक दिया कि माँगने पर धान्यागार में से उठाकर दे दिये जायेंगे। दूसरी वधू ने यह सोचकर उन कणों को खा लिया कि ससुर द्वारा दिये गये कणों को फेंकना अच्छा नहीं। तीसरी वधू ने उनको यह

३०. नाया० १।७

३१. तुमं णं पुत्ता! मम हत्थाओ इमे पंच सालिअक्खए गेण्हाहि....जया....जाएज्जा....पडिनिज्जाएज्जासि।

—नाया० १।७।६८

सोचकर सुरक्षित रख दिया कि इनके पीछे अवश्य कोई रहस्य होगा। सब से छोटी वधू ने उन कणों को पितृकुल के खेत में वपन करा दिये। पाँच वर्ष बाद उन शालिकणों को माँगा गया तथा यह पूछा गया कि क्या ये वही शालिकण हैं ? सभी वधुओं के उत्तर सुन लेने के पश्चात् सब से बड़ी पुत्र-वधू को कूड़ा फेंकने आदि का, दूसरी वधू को रसोई आदि का तथा तीसरी को कोषागार का कार्य दिया गया। सबसे छोटी वधू रोहिणी की बुद्धिमानी से प्रभावित होकर सार्थवाह ने उसे परिवार की प्रभुता प्रदान की।[३२]

संक्षेप में कहा जा सकता है कि पुत्रवधू पर अनुशासन नियन्त्रण और स्नेह से होता है। नियन्त्रण और स्नेह पक्ष में से एक के उदाहरण बौद्ध-आगमों में और दूसरे के उदाहरण जैन-आगमों में विशेषतः मिलते हैं।[३३]

गृहपत्नी

नारी गृहपत्नी[३४] के रूप में ही अपना सामाजिक-जीवन प्रारम्भ करती थी। यद्यपि पत्नी बनने के पूर्व वह कन्या के रूप में अपने माता-

---

३२. जेट्ठं····उज्झिइयं····कुलघरस्स छारुज्झियं····ठावेइ, भोगवइया····महाणसिणिं ठावेइ, ····रक्खिइयाए····भंडागारिणिं ठवेइ, रोहिणीयं····बहूसु कज्जेसु···· पमाणभूयं ठावेइ।

—नाया० २।७।६८

३३. देखिए—उद्ध० ३१

३४. वैदिक-काल में पत्नी शब्द पति के साथ नियमितरूप से यज्ञ में भाग लेने का द्योतक था तथा जाया शब्द से पति के साथ संवास-सम्बन्ध का ही बोध होता था। बौद्ध-आगमों में पत्नी के लिए भरिया, दारा तथा गहपतानी शब्दों का प्रयोग हुआ है। भरिया का तात्पर्य उस स्त्री से था जिसका भरण-पोषण किया जाता था। इसी प्रकार नवविवाहिता पत्नी को दारा तथा गृह-स्वामिनी को गहपतानी कहते थे। जैनागमों में केवल भारिया शब्द का ही प्रयोग मिलता है। प्रस्तुत अध्याय में पत्नी या गृहपत्नी शब्द से पत्नी-वाचक सभी शब्द अभिप्रेत है। यहाँ पत्नी या

पिता के परिवार में रह चुकती थी, किन्तु वहाँ वह परिवार के सदस्य के रूप में न रहकर पोष्य के रूप में ही अपना जीवन यापन करती थी। पतिकुल में पत्नी के रूप में प्रवेश करने के उपरान्त ही नारी परिवार एवं समाज के प्रति अपने दायित्वों का उचित रूप से निर्वाह करती थी। यद्यपि कभी-कभी वह पतिकुल में पुत्रवधू के रूप में भी प्रवेश कर पत्नीत्व के उत्तरदायित्वों का आंशिकरूप से निर्वाह करती थी, किन्तु उस अवस्था में उसे मुख्य रूप से वधू के कर्तव्यों का ही पालन करना होता था। अतः वैदिक एवं आगम-कालीन समाज में पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन की दृष्टि से पत्नी का विशिष्ट स्थान रहता था।

वैदिक-कालीन स्थिति :

वैदिक-काल में पत्नी की स्थिति सम्मानजनक थी। ऋग्वेद-संहिता में पत्नी को ही घर बताया गया है।[३५] वैदिक-कालीन संस्कृति में यज्ञों को सर्वाधिक महत्त्व दिया जाता था तथा उन्हें सम्पन्न करने के लिए पत्नी का सहयोग अपेक्षित रहता था। अतएव पत्नी पति के साथ अनिवार्यरूप से भाग लिया करती थी।[३६] पति की अनुपस्थिति में यज्ञों

गृहपत्नी शब्द का प्रयोग पारिभाषिक दृष्टि से नहीं किया गया है अपितु उन शब्दों का प्रयोग लौकिक-भाषा में प्रचलित होने के कारण किया गया है।

३५. (क) जायेस्तं मघवन्····

—ऋग्वेद० ३।५३।४

तुलना कीजिए—

So, on marriage, a woman was not only given a very honourable position in the household,....

—Women in the Vedic Age, p. 19

३६. (क) संजानाना उप सीदन्नभिज्ञु पत्नीवन्तो नमस्यं नमस्यन्।

—ऋग्वेद० १।७२।५

(ख) सं पत्नी पत्या सुकृतेन गच्छताम्।
यज्ञस्य युक्तौ धुर्यावभूताम्॥

—तै० ब्रा० ३।७।५।११

को पत्नी अकेले भी सम्पन्न करती थी।[३७] चूंकि पत्नी के अभाव में उचित विधि-विधानों द्वारा यज्ञ करना सम्भव नहीं रहता था, इसलिए उस समय पत्नीहीन व्यक्ति को यज्ञ का अधिकारी ही नहीं माना जाता था।[३८]

उत्तर-वैदिक-कालीन स्थिति :

ब्राह्मण-काल से पत्नी को प्राप्त पूर्वोक्त यज्ञाधिकार में ह्रास होना प्रारम्भ हो गया था, क्योंकि उस समय पत्नी के कार्यों को पुरोहित करने लगे थे।[३९] बौद्ध-युग तक आते-आते पत्नी यज्ञ या अन्य किसी धार्मिक-कृत्य को सम्पन्न करने के अधिकार से वंचित कर दी गई। इसका प्रधान कारण यह था कि उस समय तक कन्या के उपनयन-संस्कार का स्थान विवाह ने ले लिया था। अतः जब नारी पतिकुल में प्रवेश करती थी, अनुपनीत ही रहती थी। अनुपनीत होने से उसे शूद्र के समान माना जाता था। नारी को किसी भी अवस्था में वेद के मन्त्रों के उच्चारण का भी अधिकार नहीं रह गया था।[४०]

यज्ञ तथा अन्य किसी धार्मिक-कृत्य को सम्पन्न करने के अधिकार से वंचित हो जाने के कारण पत्नी का व्यक्तित्व एवं सम्मान भी समाप्त हो गया था। इसका प्रारम्भ ब्राह्मण-काल से ही हो गया था। शतपथ-ब्राह्मण (१।९।२।१२ एवं १०।५।२।९) में पति के बाद पत्नी के भोजन करने का विधान उपलब्ध होता है।

चूंकि उस समय समाज एवं परिवार के सदस्यों की धर्म के प्रति अटूट श्रद्धा थी, अतः उनमें पुरुष या नारी के व्यक्तित्व का मूल्यांकन

---

३७. If the husband was away on a journey, the wife alone performed the various sacrifices, which the couple had to offer jointly.

—The Position of Women in Hindu Civilization, p. 198

३८. देखिए—विवाह, उद्ध० ३

३९. पत्नीकर्म्मैव वा ऽएतेऽत्र कुर्व्वन्ति यदुद्गातारः।

—श० ब्रा० १४।३।१।३५, १।१।४।१३

४०. तुलना कीजिए—प्राचीन भारतीय शिक्षण-पद्धति, पृ० १६१

भी धार्मिक दृष्टि से ही किया जाता था जिसमें नारी को कोई स्थान प्राप्त नहीं होता था। यह बात दूसरी है कि सूत्रकाल तक ऋण-मुक्ति के सिद्धान्त के विकसित हो जाने से पत्नी को प्राप्त करना पुरुष के लिए अत्यावश्यक हो गया था किन्तु उस स्थिति में भी पत्नी को पति अपने साध्य (ऋणमुक्ति) की सिद्धि के लिए अन्य साधनों की तरह एक साधनमात्र मानता था।

आगम-कालीन स्थिति :

बौद्ध-युग में गृहपत्नी को पति की भाँति पुनः धार्मिक-अधिकार प्राप्त होने लगे थे।[४१] जिस प्रकार गृहस्थावस्था में जीवन-यापन करते हुए पुरुष को उपासक या श्रावक बनकर धर्माचरण करने का अधिकार प्राप्त था, उसी तरह पत्नी के रूप में रहनेवाली नारी भी उपासिका या श्राविका बनने लगी।[४२] सामाजिक-उपयोगिता की दृष्टि से भी नारी को पुरुष के समकक्ष बताया जाने लगा था। बुद्ध ने स्वयं सद्गुणों से युक्त पत्नी को सामाजिक-दृष्टि से श्रेष्ठ बतलाया।[४३] इसके अतिरिक्त पुत्र, पत्नी आदि को गृहपति की पवित्र अग्नि के रूप में प्रस्तुत किया गया[४४] तथा पत्नी के हित का ध्यान रखकर कार्य करने वाले पुरुष को सत्पुरुष बतलाया गया।[४५] फलस्वरूप पत्नी का पुनः सम्मान किया जाने लगा। वह घर की संचालिका बन गई। घर के संचालन में

---

४१. देखिए—पुत्री, उद्ध० ८०

४२. (क) ता व लोके पठमं उपासिका अहेसुं····

—महाव० पृ० २१

(ख) तए णं सा सिवानंदा····समणोवासिया जाया····

—उपा० १।६२

४३. देखिए—पुत्री, उद्ध० २५

४४. ····पुत्ता ति वा दारा ति वा····अयं वुच्चति, ब्राह्मण, गहपतग्गि।

—अंगुत्तर० ३।१८७

४५. सप्पुरिसो····पुत्तदारस्स अत्थाय हिताय सुखाय होति····

—वही, २।३१२

नियम-संयम का पालन करना-करवाना उसका प्रमुख कार्य हो गया।[४६] इसके अतिरिक्त वह परिवार के सभी सदस्यों तथा पति द्वारा अर्जित सम्पत्ति की संरक्षिका भी बन गई।[४७] उसे पति का सर्वश्रेष्ठ मित्र माना जाने लगा था।[४८]

उपर्युक्त सभी कारणों से बौद्ध-युग में पत्नी का व्यक्तित्व पुनः विकसित होने लगा जो कि कालान्तर में पूर्णरूप से प्रस्फुटित हो उठा।

जैनागमों में पत्नी की खिन्नता से पूरे परिवार में चिन्ता फैलने तथा उस चिन्ता को दूर करने के लिए गृहपति द्वारा हर सम्भव उपायों को किए जाने के स्पष्ट उल्लेख मिलते हैं।[४९] इतना ही नहीं, अपितु उस समय पत्नी इच्छा से विरुद्ध किये गये कार्य पर पति से रूठने भी लगी थी।[५०]

पति-पत्नी के पारस्परिक कर्त्तव्य :

पारस्परिक कर्त्तव्यों के प्रति पति एवं पत्नी दोनों की निष्ठा ही पत्नी के व्यक्तित्व के विकास का प्रमुख कारण थी।

---

४६. मयं खो, आचरिय, अगारिका नाम उपजानामेतस्स संयमस्स····मा त्वं···· विमनो अहोसि। न ते देय्यधम्मो हायिस्सति।

—महाव० पृ० २८६

४७. देखिए—उद्ध० ५१

४८. पुत्तावत्थु मनुस्सानं भरिया च परमो सखा।

—संयुत्त० १।३५

४९. (क) किन्नं तुवं····ओलुग्गा जाव झियायसि····किं णं····अहमेयस्स अट्ठस्स अणरिहे सवणयाए ता णं तुमं ममं····दुक्खं रहस्सी करेसि।

—नाया० १।१।१४

(ख) तो णं तुब्भे मम एयमट्ठं····परिकहेह, जा णं अहं तस्स अट्ठस्स अन्तगमणं करेमि।

—निरया० १।१।२६

५०. तए णं सा भद्दा धणं सत्थवाहं····नो आढाइ···तुसिणीया परम्मुही संचिट्ठइ।

—नाया० १।२।४६

पति के सम्मानित व्यक्तियों का सम्मान करना, आभ्यन्तरिक कार्यों में दक्षता अर्जित करना, पारिवारिक सदस्यों का उचित ध्यान रखना तथा धन-धान्यादि का संरक्षण करना पत्नी के कर्त्तव्य थे।[५१] इसके अतिरिक्त अनतिचारिणी एवं आलस्यहीन होना भी उसके कर्त्तव्य थे।[५२] पत्नी पति-कुल में जाकर पूरी निष्ठा के साथ इन कर्त्तव्यों का पालन करती थी।

पूर्वोक्त गुणों से युक्त पत्नी के प्रति पति का भी यह कर्त्तव्य था कि वह सम्मान से, अपमान न करने से, अतिचार (परस्त्री-गमन आदि) न करने से, ऐश्वर्य-प्रदान से तथा अलंकार-प्रदान से अपनी पत्नी को सन्तुष्ट करे।[५३]

पूर्वोक्त पति-पत्नी के कर्त्तव्य पत्नी-पति के अधिकार थे, अर्थात् सम्मान से पत्नी को सन्तुष्ट करना पति का कर्त्तव्य था तथा सम्मान पूर्वक पति से संतुष्ट होना पत्नी का अधिकार था। तात्पर्य यह कि पति-पत्नी दोनों में से प्रत्येक अपने कर्त्तव्यों का पालन करते हुए दूसरे से यह अपेक्षा करता था कि वह भी अपने कर्त्तव्य का पालन करे।

यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि पतिकुल में प्राप्त सम्मान एवं व्यक्तित्व-विकास के अवसर का पत्नियों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से उपयोग किया। फलतः तत्कालीन पत्नी-वर्ग के आचरण में विभिन्नता आ गई। अतः पत्नी के जीवन से सम्बन्धित अन्य पहलुओं पर विचार करने

---

५१. ये ते भत्तु गरुनो भविस्सन्ति····ते सक्करिस्साम····ये अब्भन्तराकम्मन्ता···· तत्थ दक्खा भविस्साम····यो अब्भन्तरो अन्तोजनो····तेसं····जानिस्साम···· यं धनं····तं आरक्खेन गुत्तिया सम्पादेस्साम···।

—अंगुत्तर० २।३०३–३०४

५२. भरिया····पञ्चहि ठानेहि सामिकं अनुकम्पति····अनतिचारिनी च···· अनलसा सब्बकिच्चेसु।

—दीघ० ३।१४७

५३. पञ्चहि ठानेहि····सामिकेन भरिया पच्चुपट्ठातब्बा····सम्माननाय, अनवमाननाय, अनतिचरियाय, इस्सरियवोसग्गेन, अलङ्कारानुप्पदानेन।

—वही, २।१४६–१४७

के पूर्व यह आवश्यक है कि तत्कालीन-समाज में मान्य पत्नी के भेदों पर प्रकाश डाला जाय।

पत्नी के भेद :

बौद्ध-आगमों में पत्नी के भेद दो दृष्टियों से उपलब्ध होते हैं—बाह्य परिस्थितियों (जिनके आधार से पत्नी प्राप्त की जाती थी) की दृष्टि से तथा स्वभाव की दृष्टि से।

बाह्य परिस्थितियों की दृष्टि से पत्नी के दस भेद किये गये हैं—धनक्कीता, छन्दवासिनी, भोगवासिनी, पटवासिनी, ओदपत्तकिनी ओभटचुम्बटा, दासी, कम्मकारी, धजाहटा तथा मुहुत्तिका।[५४]

धनक्कीता—धन देकर खरीदी गई स्त्री को धनक्कीता कहते थे।[५५] चूँकि धन देकर अनेक प्रकार की स्त्रियों को खरीदा जाता था, जैसे दासी आदि, अतः संवास के हेतु धन देकर खरीदी गई स्त्री को ही धनक्कीता-भार्या कहा जाता था।[५६] जैसा कि अन्यत्र बताया जा चुका है, कुछ व्यक्ति अपनी कन्या को धन लेकर ही किसी पुरुष के लिए पत्नीरूप में दिया करते थे। इसी प्रकार जिस मनुष्य का विवाह नहीं होता था, वह भी धन देकर किसी कन्या को भार्या के रूप में ले जाता था।[५७] अतः इस रीति से आदान-प्रदान की गईं कन्याएँ उक्त प्रकार में आती थीं।

छन्दवासिनी—अपनी इच्छा से किसी मनुष्य के पास रहने वाली स्त्री

---

५४. दस भरियायो—धनक्कीता····मुहुत्तिका।

—पारा० पृ० २००

५५. धनक्कीता नाम धनेन किणित्वा वासेति।

—वही, पृ० २०१

५६. यस्मा पन सा न कीतमत्ता एव संवासत्थाय पन कीतत्ता भरिया····

—सम० भाग २, पृ० ५५४

५७. देखिए—पृ० ५०-५१

को छन्दवासिनी कहते थे। किन्तु उसे भार्या बनने के लिए इतना ही पर्याप्त नहीं था अपितु यह भी आवश्यक था कि उस स्त्री को वह पुरुष भी पत्नी के रूप में चाहे, जिसके पास वह अपनी इच्छा से रहती हो। तात्पर्य यह कि जब कोई स्त्री किसी पुरुष के पास प्रेमभाव के कारण रहने लगती थी तथा वह पुरुष भी प्रेमभाव से उस स्त्री को पत्नीरूप में स्वीकार कर लेता था, तो उस स्त्री को इस प्रकार की भार्या कहा जाता था।[५८]

भोगवासिनी—भोग के कारण रहने वाली स्त्री को भोगवासिनी कहा जाता था। जनपद की कोई स्त्री किसी पुरुष से ओखली-मूसल आदि भोगोपकरणों को प्राप्त कर उसकी भार्या बन जाती थी तो उसे इस प्रकार की भार्या कहा जाता था।[५९]

पटवासिनी—वस्त्र प्राप्त कर भार्या बन कर रहने वाली स्त्री को पटवासिनी कहते थे। इस प्रकार में वे स्त्रियाँ आती थीं, जो पहले दरिद्रता से पीड़ित रहती थीं तथा बाद में किसी व्यक्ति से निवास एवं वस्त्र मात्र प्राप्त कर उसकी पत्नी बन जाती थीं।[६०]

---

५८. (क) छन्दवासिनी नाम पियो पियं वासेति।

—पारा० पृ० २०१

(ख) छन्देन अत्तनो रुचिया वसती ति छन्दवासिनी। यस्मा पन सा न अत्तनो छन्दमत्तेनेव भरिया होति पुरिसेन पन सम्पटिच्छित्तता····

—सम० भाग २, पृ० ५५४

५९. (क) भोगवासिनी नाम भोगं दत्वा वासेति।

—पारा० पृ० २०१

(ख) उदुक्खलमुसलादिघरूपकरणं लभित्वा भरियाभावं गच्छन्तिया जनपदित्थिया····

—सम० भाग २, पृ० ५५४

६०. (क) पटवासिनी नाम पटं दत्वा वासेति।

—पारा० पृ० २०१

ओदपत्तकिनी—उदकपात्र के माध्यम से बनी भार्या को ओदपत्तकिनी कहते थे। कभी-कभी स्त्री एवं पुरुष दोनों ही एक जलपात्र में हाथ डालते थे तथा यह कहकर कि जल की तरह यह (हस्तयुगल) एक हो, एक दूसरे का हस्त ग्रहण करते थे। उक्त विधि से प्राप्त पत्नी को इस प्रकार में रखा जाता था।[६१] गुजरात में आज भी यह रिवाज विधवा-विवाह में देखा जाता है।

ओभटचुम्बटा—सिर के ऊपर से गेंडुरी (कपड़े या रस्सी का बना गोलाकार वह गद्दा, जो बोझ या घड़ा आदि उठाते समय सिर पर रख लेते हैं।) उतरवा कर भार्या बनने वाली स्त्री को ओभटचुम्बटा कहते थे। जब लकड़ी ढोने वाली किसी स्त्री के सिर पर से गेंडुरी उतार कर पुरुष उसको भार्या के रूप में अपने घर रख लेता था तो उस स्त्री को इस प्रकार की भार्या कहा जाता था।[६२]

दासी—जिस स्त्री से दासी तथा पत्नी दोनों का काम लिया जाता

(ख) निवासनमत्तं पि पापुरणमत्तं वा लभित्वा भरियाभावं उपगच्छन्तिया दळिद्दित्थिया····

—सम० भाग २, पृ० ५५४

६१. (क) ओदपत्तकिनी नाम उदकपत्तं आमसित्वा वासेति।

—पारा० पृ० २०१

(ख) ····उभिन्नं एकिस्सा उदकपातिया हत्थे ओतारेत्वा 'इदं उदकं विय संसट्ठा अभेज्जा होथा' ति वत्वा परिग्गहिताय···

—सम० भाग २, पृ० ५५४

६२. (क) ओभटचुम्बटा नाम चुम्बटं ओरोपेत्वा वासेति।

—पारा० पृ० २०१

(ख) ····कट्ठहारिकादीनं अञ्ञतरा, यस्सा सीसतो चुम्बटं ओरोपेत्वा घरं वासेति····

—सम० भाग २, पृ० ५५४

था, उसको दासी-भार्या कहते थे।[६३] बौद्ध-युग में दासी के साथ पत्नी के समान संवास करने के यत्र-तत्र उल्लेख मिलते हैं।

कम्मकारी—मजदूरी लेकर काम करने वाली स्त्री का जब किसी पुरुष से पत्नी जैसा सम्बन्ध स्थापित हो जाता था तो उसे कम्मकारी-भार्या कहा जाता था। ऐसी स्त्री जिस घर में मजदूरी करने जाती थी, उस घर का स्वामी अपनी स्त्री से किसी कारणवश असन्तुष्ट होकर उसे रख लेता था।[६४]

धजाहटा—जो स्त्री ध्वजा से युक्त सेना द्वारा लाई जाती थी उसे धजाहटा कहा जाता था। बौद्ध-युग में भी एक राज्य का दूसरे राज्य से युद्ध होता रहता था। युद्ध में विजयी सेना पर-पक्ष को लूट कर उनकी स्त्रियों को लेकर वापस आती थी। जब इस प्रकार युद्ध से लूट कर लाई गई स्त्री को कोई पत्नी बनाता था तो वह पत्नी इस प्रकार में आती थी।[६५]

मुहुत्तिका—मुहूर्त्तभर के लिए भार्या बनने वाली स्त्री को मुहुत्तिका

---

६३. दासी नाम दासी चेव होति भरिया च।

—पारा० पृ० २०१

६४. (क) कम्मकारी नाम कम्मकारी चेव होति भरिया च।

—पारा० पृ० २०१

(ख) ···गेहे भतिया कम्मं करोति, ताय सद्धिं कोचि घरावासं कप्पेति अत्तनो भरियाय अनत्थिको हुत्वा।

—सम० भाग २, पृ० ५५४

६५. (क) धजाहटा नाम करमरानीता वुच्चति।

—पारा० पृ० २०१

(ख) ····उस्सितधजाय सेनाय गन्त्वा परविसयं विलुम्पित्वा आनीता····तं कोचि भरियं करोति, अयं धजाहटा नाम।

—सम० भाग २, पृ० ५५५

कहा जाता था। इस प्रकार की स्त्रियों से आवश्यकता पड़ने पर पत्नी का काम ले लिया जाता था। अत: तत्क्षण के लिए पत्नी बनीं स्त्रियों को मुहुत्तिका कहा जाता था।[६६] जैनागमों में 'इत्वरिका' शब्द इसी प्रकार की स्त्रियों के लिए आता है।[६७]

स्वभाव की दृष्टि से पत्नी को सात भागों में विभक्त किया गया है—वधकसमा, चोरीसमा, आर्यसमा, मातासमा, भगिनीसमा तथा दासीसमा।[६८]

वधकसमा—जो पत्नी अपने पति के वध के लिए उत्सुक रहती थी, उसे वधकसमा कहा जाता था। ऐसी पत्नी दुष्ट चित्त एवं पति की अहित की इच्छा से युक्त होती थी। साथ ही वह पति की उपेक्षा कर परपुरुष से सम्पर्क स्थापित किया करती थी। इस प्रकार में वह पत्नी आती थी जो धन से खरीदी जाती थी।[६९]

चोरीसमा—पति के धन-धान्यादि की चोरी करने वाली पत्नी चोरीसमा कहलाती थी। बौद्ध-युग में पति का पत्नी के प्रति यह कर्त्तव्य था

---

६६. मुहुत्तिका नाम तङ्खणिका वुच्चति।

—पारा० पृ० २०१

६७. तं जहा इत्तरियपरिग्गहियागमणे···

—उपा० १।४४

६८. वधकसमा····दासीसमा—इमा सत्त····पुरिसस्स भरियाओ।

—अंगुत्तर० ३।२२३

६९. पदुट्ठचित्ता अहितानुकम्पिनी
अञ्ञेसु रत्ता अतिभुञ्ञते पतिं।
धनेन कीतस्स वधाय उस्सुका
या एव रूपा पुरिसस्स भरिया।
वधा च भरिया ति च सा पवुच्चति॥

—वही, ३।१२४

कि वह अपनी पत्नी को परिवार का ऐश्वर्य-प्रदान करे,[७०] किन्तु इसके साथ पत्नी का पति के प्रति भी यह कर्त्तव्य था कि वह पति द्वारा अर्जित धन-धान्यादि का सच्चाई के साथ संरक्षण करे।[७१] इस प्रकार तत्कालीन परिवारों में पति द्वारा अर्जित सम्पत्ति के संरक्षण का भार पत्नी के हाथ में रहता था। कोई-कोई पत्नी उस धन में से कुछ भाग पति की अनुमति के बिना अपने पास रख लेती थी। ऐसी ही पत्नी को पति के प्रति चोर के समान आचरण करने के कारण चोरीसमा कहा जाता था।[७२]

आर्यसमा—पति के सेवकों के ऊपर अनावश्यक प्रभुत्व का प्रदर्शन करने वाली पत्नी को आर्यसमा कहा जाता था। यद्यपि इस प्रकार की पत्नी पति के अहित की इच्छुक नहीं होती थी तथापि वह आलसी एवं लालची हुआ करती थी। फलस्वरूप वह स्वभाव से उग्र एवं वाणी से कटु होती थी। ऐसी पत्नी सदैव इस बात का प्रयास करती थी कि सेवकों से ही अधिक से अधिक कार्य कराया जाय।[७३]

---

७०. ···भरिया पच्चुपट्ठातब्बा····इस्सरियवोस्सग्गेन···

—दीघ० ३।१४७

७१. ····यं भत्ता आहरिस्सति धनं वा धञ्ञं वा····तं
आरक्खेन गुत्तिया सम्पादेस्साम तत्थ च भविस्साम अधुत्ती···

—अंगुत्तर० २।२०४

७२. यं इत्थिया विन्दति सामिको धनं,
अप्पं पि तस्स अपहातुमिच्छति,
चोरी च भरिया ति च सा पवुच्चति। —वही, ३।२२४

७३. अकम्मकामा अलसा महग्घसा
फरुसा च चण्डी दुरुत्तवादिनी।
उट्ठायकानं अभिभुय्य वत्तति
या एवरूपा पुरिस्स भरिया
अय्या च भरिया ति च सा पवुच्चति॥

—वही

मातासमा—जिस प्रकार माता, पुत्र के प्रति आत्मीयता की भावना से युक्त होकर उसकी रक्षा करती है, ठीक उसी प्रकार जो पत्नी, पति की आत्मीयता-पूर्वक रक्षा करती थी उसे मातासमा कहा जाता था। इस प्रकार की पत्नी सदैव अपने पति के हित की इच्छुक होती थी तथा उसके अर्जित धन की तन्मयता से रक्षा करती थी।[७४]

भगिनीसमा—जो पत्नी, छोटी बहिन के द्वारा बड़े भाई के प्रति किये गये व्यवहार की भांति अपने पति से व्यवहार करती थी, उसे भगिनीसमा कहा जाता था। इस प्रकार की पत्नी, पति के कारण अपने आपको गौरवान्वित समझती थी अर्थात् पति के ऊपर उसे गौरव रहता था। अतः वह लज्जावती बनकर पति की इच्छा के अनुरूप ही आचरण करती थी।[७५]

सखीसमा—पति के संग सखी के समान व्यवहार करने वाली पत्नी को सखीसमा कहा जाता था। जिस प्रकार चिरकाल के बाद मित्र को देखकर उसकी सखी को प्रसन्नता होती है, ठीक उसी प्रकार की प्रसन्नता पति को देखकर इस प्रकार की पत्नी को होती थी। ऐसी पत्नी सखी की

---

७४. या सब्बदा होति हितानुकम्पनी,
माता व पुत्तं अनुरक्खते पतिं।
ततो धनं सम्मतमस्स रक्खति
माता च भरिया ति च सा पवुच्चति॥

—अंगुत्तर ३।२२४

७५. यथा हि जेट्ठा भगिनी कनिट्ठिका
सगारवा होति सकम्हि सामिके।
हिरीमना भत्तवसानुवत्तिनी,
भगिनी च···

—वही

भाँति सज्जन होती थी तथा शील एवं पातिव्रत-धर्म से युक्त होती थी।[७६]

दासीसमा—पति के प्रति दासी के अनुरूप आचरण करनेवाली पत्नी को दासीसमा कहा जाता था। इस प्रकार की पत्नी दासी के समान क्रोध एवं दुष्ट स्वभाव से पूर्णतया विहीन होती थी तथा पति के कटुतम व्यवहार को भी शान्ति से सहन करती थी। जिस प्रकार दासी अपने स्वामी के द्वारा दण्डित होने के भय से कभी भी अनुचित कार्य करने का विचार नहीं करती है उसी प्रकार इस प्रकार की पत्नी के हृदय में पति के दण्ड के भय से अनुचित भावनाएँ प्रविष्ट नहीं होती थीं। ऐसी पत्नी अपने पति को ठीक वैसा ही महत्त्व प्रदान करती थी जैसा कि दासी अपने स्वामी को।[७७]

पत्नी के पूर्वोक्त प्रथम प्रकार के भेदों से यह ज्ञात होता है कि सूत्रकाल में निहित नारीवर्ग पर पुरुषवर्ग का प्रभुत्व बौद्ध-युग में भी विद्यमान था। यद्यपि बौद्ध-भारत में नारियों को पुरुषों के समान धार्मिक-अधिकार प्राप्त हो जाने से पत्नीवर्ग में नवीन भावना का उदय हो चला था किन्तु उनकी पुरुषों पर आश्रित रहने की अवस्था में कोई अन्तर नहीं आया था।

---

७६. या चोध दिस्वान पतिं पमोदति
सखी सखारं व चिरस्समागतं।
कोलेय्यका सीलवती पतिब्बता
सखी च····

—वही ३।२२५

७७. अक्कुद्धसन्ता वधदण्डतज्जिता
अदुट्ठचित्ता पतिनो तितिक्खति।
अक्कोधना भत्तुवसानुगामिनी
दासी च—

—वही

पत्नी के दस भेदों के न्यूनाधिक महत्त्व के विषय में कुछ भी नहीं कहा गया है। अतः यह कहना कठिन है कि तत्कालीन समाज में प्रथम प्रकार के दस भेदों में कौन-कौन से भेद अपेक्षाकृत अधिक उत्तम माने जाते थे। तथ्य यह है कि उक्त भेद पत्नी को प्राप्त करने के तरीकों को व्यक्त करते थे तथा पत्नी की उत्तमता या अधमता उसे प्राप्त करने के उपायों पर निर्भर न रहकर, उसके स्वभाव पर निर्भर रहती थी। अतः उन भेदों से पत्नी की अच्छाई या बुराई ज्ञात नहीं होती थी।

पत्नी के द्वितीय प्रकार के सात भेदों में से प्रथम तीन भेदों को निकृष्ट एवं अन्य चार भेदों को उत्कृष्ट बताया गया है। कहा गया है कि प्रथम तीन प्रकार की पत्नियां दुःशीलता, कठोरता एवं पति के प्रति अनादरभाव रखने से मरकर नरक में जाती हैं, तथा अन्य चार प्रकार की पत्नियाँ सद्गुणों से युक्त होने के कारण शरीर त्यागकर स्वर्ग प्राप्त करती हैं।[७८] यद्यपि इन भेदों में भी सर्वोत्कृष्ट या सर्वनिकृष्ट भेद के विषय में स्पष्ट संकेत प्राप्त नहीं होता है तथापि पूर्वापर प्रसंग से यह कहा जा सकता है कि 'दासीसमा' नामक भेद सर्वोत्कृष्ट माना जाता था। यही कारण था कि सुजाता नामक कुलवधू ने, जिसके असंयत आचरण को सुधारने की दृष्टि से उक्त भेदों को बताया गया था, दासीसमा-पत्नी बनकर रहने का निश्चय किया था। अन्य भेदों की विशेषताओं से यह भी स्पष्ट होता है कि इन भेदों के कथन के पीछे निम्नतम से उच्चतम पत्नी के स्वरूप को क्रम से प्रस्तुत

---

७८. या चीध भरिया वधका ति वुच्चति,
चोरी च अय्या ति च या पवुच्चति।
दुस्सीलरूपा फरुसा अनादरा
कायस्स भेदा निरयं वजन्ति ता॥
या चीध माता···
···सुगतिं वजन्ति ता॥

—अंगुत्तर० ३।२२५

करने का भाव निहित था। अतः वधकसमा को सर्वनिकृष्ट भेद कहा जा सकता है।

पत्नी के इन सात भेदों पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने से यह स्पष्ट होता है कि बौद्ध-धर्म में नारी को जो सुविधाएं मिली थीं उनका गृहपत्नियों ने पृथक्-पृथक् ढंग से उपयोग किया था। जब कभी पराधीन व्यक्ति को सुविधाएँ प्रदान कर दी जाती हैं, तो या तो वह उनका दुरुपयोग कर स्वच्छन्दता की ओर अग्रसर होने लगता है, या फिर पहले से भी अधिक संयत बन जाता है। यही बात बौद्ध-युगीन गृहपत्नियों के ऊपर भी प्रयुक्त हुई थी। पराधीनता एवं हीनता की भावना से मुक्ति मिलने पर कतिपय गृहपत्नियाँ स्वच्छन्द बन गईं तथा वे पति का वध करने को उत्सुक रहने लगीं, अपने संरक्षण में निहित धन की चोरी करने लगीं या आलसी बनकर परिजनों को अनावश्यक कष्ट देने में दक्षता दिखाने लगीं। इसके विपरीत कुछ बौद्धधर्म-जन्य नूतन-क्रान्ति का पूर्ण सदुपयोग कर सही अर्थ में पति की जीवन-संगिनी बनने का प्रयास करने लगीं।

जैन-युग तक गृहपत्नियों की स्वच्छन्द-प्रवृत्ति समाप्ति-सी हो गई। जैनागमों में पति की भावना की उपेक्षा कर स्वच्छन्द-आचरण करनेवाली पत्नी के सम्बन्ध में बहुत कम उल्लेख मिलते हैं। उदाहरणस्वरूप रेवती भार्या ने अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए सौतों की हत्या कर दी थी तथा उनकी सम्पत्ति पर अधिकार कर पति की इच्छा के विरुद्ध अधर्माचरण से परिपूर्ण जीवन प्रारम्भ कर दिया था।[७९] इसके अतिरिक्त उसने अपने पति की धर्मसाधना में भी विघ्न उपस्थित करने का प्रयास किया था। किन्तु रेवती के दुष्ट-आचरण की पृष्ठभूमि में पति के

---

७९. तए णं सा रेवई···छ सवत्तीओ सत्थप्पओगेणं उद्दवेइ, उद्दवेत्ता छ सवत्तीओ विसप्पओगेणं उद्दवेइ···तासिं सवत्तीणं हिरण्णकोडिं···सयमेव पडिवज्जइ।····महासयएणं सद्धिं उरालाइं भोगभोगाइं भुञ्जमाणी··· विहरइ। —उपा० ८।२३५

साथ मनुष्य-सम्बन्धी विपुल-भोगों को भोगने की इच्छा मात्र थी।[८०] अतः उसने कभी भी अपने पति को मारने या उसका अतिक्रमण करने का प्रयास नहीं किया था। इतने पर भी रेवती के दुष्ट आचरण से क्रोधित होकर उसके पति ने उसे जब शाप दिया तो वह भयभीत हो गई।[१]

पूर्वोक्त रेवती भार्या को तत्कालीन गृहपत्नियों का अपवाद ही कहा जा सकता है। कारण, जैनागमों में प्राप्त अधिकांश उल्लेखों से पति के प्रति पत्नी के विनम्र आचरण का ही ज्ञान होता है। सारांश यह है कि जैन-युगीन गृहपत्नी में स्वतन्त्रता के साथ-साथ शालीनता भी आ गई थी, तथा वह अच्छाई तथा बुराई की मर्यादा को समझने लगी थी।

इस प्रकार प्रथम प्रकार के दस भेदों से पत्नी पर पति के प्रभुत्व एवं द्वितीय प्रकार के सात भेदों से पत्नी की स्वभावगत विभिन्नता का ज्ञान प्राप्त होता है।

पत्नी पर पति का प्रभुत्व :

आगम-कालीन समाज में पत्नी पति की निजी सम्पत्ति के रूप में मानी जाती थी। पति पत्नी के प्रति किसी भी प्रकार का व्यवहार करने के लिए स्वतन्त्र था। इसका कारण यह था कि पत्नी को अपने पति के विरुद्ध आवाज उठाने का अधिकार नहीं था।

पति अपनी पत्नी से यह अपेक्षा करता था कि पत्नी सदैव उसकी आज्ञाकारिणी बनी रहे तथा समय पर उसको सन्तोष दे सके। एक व्यक्ति ने नैहरस्थित अपनी पत्नी को बुलाने के लिए सन्देश भेजा

---

८०. हंभो महासयया ! ···किण्णं तुब्भं····धम्मेण वा····जंण्णं तुमं मए सद्धि उरालाइं जाव भुञ्जमाणे नो विहरसि ?

—उपा० ८।२४२

८१. रुट्ठे णं ममं महासयए···न नज्जइ णं, अहं केणवि कुमारेणं मारिज्जिस्सामि'त्ति कट्टु भीया····झियाइ।

—वही, ८।२५२

किन्तु किसी कारणविशेष से पत्नी न आ सकी। फलस्वरूप पति दूसरी पत्नी ले आया। इस समाचार को सुनकर प्रथम पत्नी विलाप करने के अतिरिक्त कुछ न कर सकी।[८२]

यदि पति सांसारिक-जीवन से ऊब कर प्रव्रज्या लेने की इच्छा करता था तो इसकी सूचनामात्र पत्नी को देता था। पति के लिए यह आवश्यक नहीं था कि वह अपनी पत्नी से प्रव्रज्या की अनुमति प्राप्त करे,[८३] जब कि पत्नी को पति की अनुमति मिले बिना प्रव्रज्या नहीं दी जाती थी।[८४] यह बात दूसरी है कि प्रव्रज्या लेने के पूर्व पति कभी-कभी पत्नी के जीवनयापन की उचित व्यवस्था कर देता था। यदि पत्नी पति के सुझाव से पर-पुरुष के पास जाना चाहती थी तो पति उस पुरुष के लिए अपनी पत्नी को विधि-पूर्वक उसी प्रकार दान में दे देता था जिस प्रकार व्यक्ति अपनी अन्य वस्तुओं को देता था।[८५]

पति द्वारा दुराचारिणी-पत्नी को मारे जाने के भी उल्लेख मिलते हैं।[८६] कभी-कभी तो बलात्कार किये जाने पर भी पत्नी को मार डाला जाता था।[८७] यद्यपि ऐसी अवस्था में पत्नी का कोई दोष नहीं

---

८२. आगच्छतु काणा, इच्छामि काणाय…अथ खो काणाय सामिको अञ्ञं पजापतिं आनेसि। अस्सोसि खो काणा… रोदन्ती अट्ठासि।

—पाचि० पृ० ११२–११३

८३. दीघ० २।१८५; अंगुत्तर० ३।३१६

८४. या पन भिक्खुनी….सामिकेन वा अननुञ्ञातं सिक्खमानं वुट्ठापेय्य, पाचित्तियं।

—पाचि० पृ० ४६४–४६५

८५. अथ खो अहं, भन्ते, तं पुरिसं पक्कोसापेत्वा वामेन हत्थेन पजापतिं गहेत्वा दक्खिणेन हत्थेन भिङ्गारं गहेत्वा तस्स पुरिसस्स ओणोजेसिं।

—अंगुत्तर० ३।३१६

८६. मय्हं पजापति अतिचरति, तं घातेस्सामी ति। जानाही ति।

—पाचि० पृ० ३०१

८७. तए णं छ गोट्ठिल्ला पुरिसा…बन्धुमईए सद्धिं विउलाइं भोगभोगाइं भुंजमाणा विरहन्ति…अज्जुणए छ इत्थिसत्तमे पुरिसे घाएमाणे….

—अन्त० ६।१०४, १०६

होता था किन्तु दूसरे पुरुष से दूषित पत्नी रखना मनुष्य की सामाजिक-प्रतिष्ठा के लिए घातक था।

पति के व्यवहार से क्रुद्ध होकर पत्नी के घर से भागने के भी उल्लेख मिलते हैं।[८८] यद्यपि आगमों में इस प्रकार पत्नी के घर से भागने के कारणों पर प्रकाश नहीं डाला गया है किन्तु निश्चय ही जब पति का अत्यधिक प्रभुत्व पत्नी की सहनशक्ति की चरम सीमा को भी लांघ जाता होगा तभी वह क्रुद्ध होकर भागने के लिए विवश होती होगी।

पत्नी को जुए के दांव पर लगाना भी पति के प्रभुत्व का ही परिचायक था, क्योंकि जुए के दांव पर लगाने के पूर्व या पश्चात् पति के विरुद्ध पत्नी या उसके भाई-बन्धु कुछ भी नहीं कर पाते थे।

सारांश यह कि आगम-कालीन-समाज में साधारणतया पत्नी अन्य भोग्य वस्तुओं की भांति ही एक प्रकार की भोग्य वस्तु मानी जाती थी।[८९]

पति पर पत्नी का प्रभुत्व :

आगमों में पति पर पत्नी के प्रभुत्व की भी यत्र-तत्र चर्चा की गई है। वह पत्नी जो रूप, भोग, ज्ञाति, पुत्र एवं शील बल से युक्त होती थी, अपने पति पर शासन करती थी।[९०] अतः परिव्राजक-अवस्था को त्याग कर पति बननेवाला व्यक्ति अपनी पत्नी की प्रभुता का प्रायः

---

८८. (क) अञ्ञतरा····सामिकेन सह भण्डित्वा गामतो निक्खमित्वा···

—पाचि० पृ० १७८

(ख) इत्थी वा कुद्धगामिणी।

—सूय० १।३।१।१६

८९. वत्थगन्धमलंकारं इत्थीओ सयणाणि च।
भुञ्जाहिमाइं भोगाइं····

—सूय० १।३।२।१७

९०. पञ्चहि बलेहि समन्नागतो मातुगामो सामिकं अभिभुय्य वत्तति।

—संयुत्त० ३।२१६

शिकार हो जाता था। कारण, वह व्यक्ति रूप, भोग आदि बलों से हीन तो होता ही था, साथ ही ऐश्वर्य के अभाव से भी ग्रस्त रहता था। इसके अतिरिक्त शिल्प आदि के ज्ञान से हीन होने से पत्नी का भरण-पोषण एवं उसकी इच्छाओं की पूर्ति भी नहीं कर पाता था। अतः पत्नी अपने परिव्राजक पति पर तरह-तरह से प्रभुता का प्रदर्शन करती थी। लुब्धक-पुत्री चापा अपने पति उपक आजीवक को नाना प्रकार से दबाती थी। इसका मूल कारण यह था कि चापा यह भली भाँति जानती थी कि उसके पति के पास न तो धन था, और न ही शिल्प-ज्ञान। अतः उस पर प्रभुता प्रदर्शित करने से चापा को कोई हानि नहीं हो सकती थी। कारण, वह चापा को छोड़कर अन्यत्र नहीं जा सकता था।[९१] इसी प्रकार पत्नी की इच्छा की पूर्ति के लिए एक परिव्राजक को कोशलराज के पास तेल लेने जाना पड़ा था। चूँकि तेल वहीं पीने के लिए मिलता था, अतः परिव्राजक ने इस आशा से अधिक पी लिया कि पत्नी के सामने उगल देगा, किन्तु अधिक तेल पीने से उसकी मृत्यु हो गई[९२]। सूयगडं में भी परिव्राजकों पर उनकी पत्नी की प्रभुता का विशद वर्णन उपलब्ध होता है।[९३]

तरुण पत्नी भी अपने वृद्ध पति पर प्रभुत्व करती थी। राजा ओक्काक ने अपनी तरुण पत्नी के कहने से प्रथम पत्नी के पुत्र-पुत्रियों को देश से निकाल दिया था।[९४] इसी प्रकार एक वृद्ध पति को तरुण पत्नी के कहने से अनिच्छापूर्वक उसका कार्य करने के लिए विवश होना पड़ा था।[९५]

---

९१. थेरी० १३।३

९२. उदा० २।६

९३. अह तं तु भेयमावन्नं मुच्छियं भिक्खुं काममइवट्टं।
पलिभिन्दिया णं तो पच्छा पादुद्धट्टु मुद्धि पहणन्ति।

—१।४।२।२

९४. भूतपुब्बं, अम्बट्ठ, राजा ओक्काको····जेट्ठकुमारे रट्ठस्मा पब्बाजेसि।

—दीघ० १।८०

९५. मज्झिम० २।५७–५८

जैनागमों में पति पर पत्नी के अनुचित प्रभुत्व के सूचक उल्लेख नहीं मिलते हैं। उनमें जहाँ कहीं भी पत्नी की प्रभुता से सम्बन्धित उल्लेख उपलब्ध होते हैं, वे इसी बात कर प्रकाश डालते हैं कि जैन-युग में पत्नी अपनी मर्यादा एवं विनम्रता का त्याग प्रायः नहीं करती थी। वह पति के प्रति श्रद्धा ही की भावना रखती थी।

किन्तु बौद्ध तथा जैन दोनों ही आगमों से यह ज्ञात होता है कि उस समय पति पर प्रभुत्व होना पत्नी के लिए गौरव की बात मानी जाती थी। एक स्थल पर इसे पत्नी के पूर्व जन्मकृत पुण्य का फल बताया गया है।[९६] अतः प्रत्येक पत्नी सदैव इस बात का प्रयत्न करती थी कि उसका पति उसके अनुकूल रहे। इसके लिए पत्नी चूर्ण, औषध आदि साधनों का भी उपयोग करने के लिए तत्पर रहती थी।[९७]

दाम्पत्य-सम्बन्ध :

बौद्ध-युग में पति एवं पत्नी के पारस्परिक कर्त्तव्य एवं अधिकार के निर्धारण से दाम्पत्य-सम्बन्ध में सुदृढ़ता आने लगी थी। पत्नी पति की भोग्य-वस्तु के साथ-साथ जीवन-संगिनी भी बनने लगी। पत्नी के अभाव में मनुस्य अपने को निराश्रित अनुभव करने लगता था। इसका कारण यह था कि पत्नी उसके प्रेम की आश्रयभूत रहती थी। जब मुण्डक राजा की पत्नी की मृत्यु हुई, तो वह अत्यन्त दुःखी हुआ तथा दुःखाभिभूत होकर उसने स्नान-भोजन को भी त्याग दिया। वह अपनी पत्नी के पार्थिव

---

९६. (क) जा इमा इत्थिया भवति एगा एगजाया…जं पासित्ता णिग्गंथी निदानं करेति…
—दशा० पृ० ४२३

(ख) …ठानानि दुल्लभानि अकतपुञ्ञेन मातुगामेन…सामिकं अभिभुय्य वत्तेय्यं।
—संयुत्त० ३।२२१

९७. तं अत्थियाइं मे अज्जाओ! केइ कहिंचि चुण्णजोए वा मंतजोगे वा कम्मणजोए वा हियउड्डावणे…गुलिया वा ओसहे वा…इट्ठा भवेज्जामि।
—नाया० १।१४।१०४

शरीर को तेल में रखवाकर उसीके सम्मुख विलाप करता रहता था।[९८] एक स्त्री के भाई-बन्धु उसे उसके पति से छीनकर अन्य पुरुष को देना चाहते थे किन्तु पति एवं पत्नी दोनों ही एक-दूसरे को चाहते थे। फलस्वरूप पति ने, इस आशा से कि अगले जन्म में हम दोनों एक साथ रहेंगे, अपनी पत्नी को मारकर आत्महत्या कर ली।[९९]

पत्नी के द्वारा दिये गये सहयोग एवं किये गये सदाचरण से पति-वर्ग को पूर्ण सन्तोष रहता था तथा इस सन्तोष को पति बड़े गौरव के साथ व्यक्त भी किया करता था जो आगम-कालीन पत्नी के दाम्पत्य-सम्बन्ध की मधुरता को ही बताता था।

दाम्पत्यजीवन की सुदृढता के लिए पति का अतिक्रमण न करना पत्नी के लिए अत्यावश्यक होता था। कारण, पति सबसे पहले अपनी पत्नी से यही आशा करता था कि वह मेरा अतिक्रमण न करे। नकुल-पिता को मरण-शय्या पर व्याकुल देखकर उसकी पत्नी ने समझाया कि वह मरणोपरान्त भी उसका अतिक्रमण नहीं करेगी।[१००] फलतः नकुल-पिता पत्नी से आश्वस्त होकर स्वस्थ हो गया। धनिय गोप भी अपनी पत्नी को इसलिए मानता था कि गोप ने उसका पाप नहीं सुना था।[१०१] नन्दमाता ने भी इसे बड़े गौरव के साथ बताया था कि वह

---

९८. सो भद्दाय देविया कालङ्कताय नेव न्हायति न विलिम्पति···देविया सरीरे अज्झोमुच्छितो।

—अंगुत्तर० २।३२२–३२३

९९. इमे, मं, अय्यपुत्त, ञातका त्वं अच्छिन्दित्वा अञ्ञस्स दातुकामा। अथ खो सो पुरिसो तं इत्थिं द्विधा छेत्वा अत्तानं उप्फालेसि—'उभो पेच्च भविस्सामा'ति।

—मज्झिम० २।३५६

१००. सिया खो पन ते, गहपति, एवमस्स—'नकुलमाता गहपतानी ममच्चयेन अञ्ञं घरं गमिस्सती' ति। न खो पनेतं,···एवं दट्ठब्बं।

—अंगुत्तर० ३।१७

१०१. गोपी मम अस्सवा अलोला
दीघरत्तं संवासिया मनापा।
तस्सा न सुणामि किञ्चि पापं,····

—सुत्तनिपात १।२।२२

बाल्यावस्था में ही पतिकुल में ले आई गई थी किन्तु कभी भी उसने अपने पति का मन से भी अतिक्रमण नहीं किया था।[१०२]

कभी-कभी प्रोषित-पतिकाएं पर-पुरुष से सम्बन्ध स्थापित कर लेती थीं तथा उन्हें पर-पुरुष से गर्भ भी रह जाता था। वे उस गर्भ को चोरी-छिपे गिराकर फिकवा देती थीं।[१०३] उन्हें भय रहता था कि यदि जार के साथ उनके सम्बन्ध का समाचार पति सुन लेगा तो उनकी जीवन-लीला की समाप्ति हो जाएगी। आगम-कालीन समाज में यदि किसी परिवार की स्त्री अतिक्रमण करती थी तो उस कृत्य से उत्पन्न अपयश का भागी परिवार का प्रत्येक सदस्य होता था। अतः अतिचरण करने वाली पत्नी की जीवन-लीला भी समाप्त कर दी जाती थी।[१०४] इसीलिए पत्नी के रूप में रखी गई गणिका से भी यह आशा की जाती थी कि वह पर-पुरुष से सम्बन्ध स्थापित न करे।[१०५]

कुल की गृहपत्नी का अपने पति से प्रायः मधुर-सम्बन्ध ही रहता था। पति की आज्ञा का पत्नी पूर्णतया पालन करती थी तथा पत्नी की इच्छा का पति सम्मान करता था। जब कभी पत्नी अपनी इच्छा को पति के सम्मुख प्रस्तुत करती थी तो पति यह कहता था कि यही मेरी भी इच्छा है।[१०६] आगम-साहित्य में अतिचरण को छोड़कर अन्य ऐसे कारण कम दृष्टिगोचर होते हैं जिनसे पति-पत्नी में मतभेद हुआ हो। तथ्य तो यह है कि कुलीन पति-पत्नी के कार्यों को देखकर यही

---

१०२. यतोहं सामिकस्स दहरस्सेव दहरा आनीता नाभिजानामि सामिकं मनसा पि अतिचरिता।

—अंगुत्तर० ३।२०३

१०३. अञ्ञतरा इत्थी पवुत्थपतिका जारेन गब्भिनी होति। सा गब्भं पातेत्वा कुलूपिकं भिक्खुनिं एतदवोच…

—चुल्ल० पृ० ३८८

१०४. पाचि० ३०१

१०५. विवाग० १।६।६८

१०६. ममं पि य णं…एस चेव मणोरहे…

—नाया० १।२।४२

अनुमान होता था कि वे केवल शरीर से भिन्न एवं पारिवारिक आचार-विचारों से अभिन्न थे।

किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि धार्मिक-विचारों से भी पत्नी पति से सहमत हो। बौद्ध-आगमों में प्राप्त उल्लेखों से ज्ञात होता है कि कभी-कभी पति-पत्नी में धार्मिक मतभेद के कारण मनमुटाव-सा उत्पन्न हो जाता था। इसका प्रमुख कारण यह था कि वैदिक-संस्कृति से प्रभावित परिवारों की पत्नी बुद्ध से प्रभावित होकर उन्हें नमस्कार करती थी जो कि उनके पति को असह्य होता था। किन्तु इस प्रकार के धार्मिक मतभेद से दाम्पत्य-सम्बन्ध में किसी प्रकार की शिथिलता नहीं आती थी। बौद्ध-युग धार्मिक-क्रान्ति का युग था। अतः उस समय धार्मिक दृष्टि से स्त्री-पुरुष अपने को स्वतन्त्र अनुभव करते थे।

सपत्नीकृत उत्पात :

जैसा कि अन्यत्र लिखा जा चुका है, आगम-कालीन समाज में बहु-पत्नीत्व की प्रथा का प्रचलन था। उस समय राजा की तो अनेक पत्नियाँ होती ही थीं, धनाढ्य व्यक्ति भी अधिक पत्नियाँ रखने में अपने वैभव की सार्थकता समझते थे। साधारण व्यक्ति पत्नी के वन्ध्या होने पर द्वितीय पत्नी रख लेता था। फलतः इन सपत्नियों के कारण परिवार में घोर अशान्ति का वातावरण रहता था।

पति की 'प्रिय-पत्नी' अपनी सपत्नियों के विद्वेष से निरन्तर पीड़ित रहा करती थी। वे सपत्नियाँ कभी 'प्रिय-पत्नी' का हित नहीं चाहती थीं। सपत्नियों का यह विद्वेष-पूर्ण रवैया उस समय अपनी पराकाष्ठा पर पहुंच जाता था जब पति पर किसी एक पत्नी का अधिक प्रभुत्व होता था।

सपत्नियों की पारस्परिक कटुता के अनेक कारण थे। सर्वप्रथम कारण यह धारणा थी कि यदि कोई पत्नी प्रभुता-सम्पन्न हो गई तो अन्य सपत्नियों को नाना कष्ट झेलने पड़ेंगे। एक व्यक्ति की दो पत्नियां थीं, एक पत्नी का ८—१० वर्ष का पुत्र था तथा द्वितीय गर्भवती।

सहसा उस व्यक्ति के मर जाने पर पुत्र ने अपनी मां की सपत्नी को घर से निकालना चाहा।[१०७] यही कारण था कि वन्ध्या पत्नी प्रायः अपनी गर्भवती सपत्नी के गर्भ का विनाश करने को उद्यत रहती थी।[१०८]

इसके विपरीत पति की प्रिय पत्नी भी अपनी सपत्नियों के विनाश का प्रयत्न करती थी। उसे यह आशंका रहती थी कि यदि कभी उसकी सपत्नियाँ अपने पति को उससे विमुख करने में सफल हो गईं तो उसकी दशा दयनीय हो जाएगी। अतः वह हाथ में निहित शक्ति का प्रयोग कर सपत्नियों को अपने मार्ग से हटा देना चाहती थी। उदाहरणस्वरूप कलिंग राजा की पटरानी ने अपनी सपत्नी की हत्या के निमित्त उसके ऊपर अँगार फेंक दिये थे।[१०९]

जैनागमों में भी पति के साथ यथेष्ट भोग करने एवं प्रभुता प्राप्त करने की अभिलाषा से पत्नी द्वारा अपनी सपत्नियों को मार डालने के उदाहरण हैं। रेवती ने इसी भावना से अपनी १२ सपत्नियों को मार डाला था।[११०] सिंहसेन की ५०० रानियाँ थीं जिनमें श्यामा उसे सबसे अधिक प्रिय थी। फलतः उपेक्षित रानियों की माताओं ने अपनी प्रिय पुत्रियों की दयनीय अवस्था को दूर करने के लिए श्यामा को मार डालने की योजना बनाई थी।[१११] किसी प्रकार श्यामा को उस योजना के

---

१०७. अथ खो माणवको मातुसपत्ति एतदवोच—यमिदं, भोति, धनं···सब्बं तं मय्हं; नत्थि तुय्हेत्थ किञ्चि···

—दीघ० २।२४६

१०८. सपत्ती मे गब्भिनी आसि तस्सा पापं अचेतयिं।
साहं पदुट्ठमनसा अकरिं गब्भपातनं॥

—पेत० १।६।३१, १।७।४२; पारा० पृ० १०४–१०५

१०९. एसा इत्थी कलिङ्गस्स रञ्ञो अग्गमहेसी अहोसि। सा इस्सापकता सपत्तिं अङ्गारकटाहेन ओकिरि।

—संयुत्त० २।२१६

११०. देखिए—उद्ध० ७९।

१११. एवं खलु, सामी, सीहसेणे राया सामाए देवीए मुच्छिए ४ अम्हं धूयाओ नो आढाइ···। तं सेयं खलु अम्हं सामं देविं···जीवियाओ ववरोवित्तए।

—विवाग० १।९।१६५

विषय में आभास मिल गया। परिणामस्वरूप उसने अपने ऊपर आसक्त सिंहसेन से अन्य रानियों की माताओं को मरवा डाला।[११२]

इन सब कारणों से सपत्नी का न होना पत्नी का सौभाग्य माना जाने लगा था।[११३] सपत्नियों से हीन होकर परिवार में रहना स्त्रियों के लिए एक दुर्लभ बात थी। अतः उसे पूर्वजन्म में अर्जित पुण्य का फल माना जाता था।[११४]

पत्नी एवं परिवार :

परिवार में गृहपत्नी का सम्मानजनक स्थान था। आगमों में प्राप्त उल्लेखों से ज्ञात होता है कि वह परिवार के सभी सदस्यों की स्वामिनी होती थी। घर के आन्तरिक कार्य उसी की इच्छा के आधार पर होते थे।[११५] यही कारण था कि परिवार के आन्तरिक कार्य के साथ गृहपत्नी का प्रायः अनिवार्यरूप से सम्बन्ध होता था। आगमों में घर के ऐसे आन्तरिक कार्य का उल्लेख नहीं मिलता जिसमें गृहपत्नी का प्रभुत्व दृष्टिगोचर न होता हो।

गृहपत्नी को न केवल प्रभुता ही प्राप्त थी अपितु उसके पास वैयक्तिक-सम्पत्ति भी रहती थी। इस प्रकार की सम्पत्ति में वह धन आता था जो पत्नी को नैहर से मिलता था। प्रव्रज्या से रट्ठपाल को वापस बुलाने के लिए परिवार की सम्पन्नता बताते हुए उसके पिता ने उससे कहा कि यह तुम्हारी माता का धन है, वह तुम्हारे पिता का

---

११२. तए णं···सीहरन्ना आलीवियाइं···कालधम्मुणा संजुत्ताइं।

—वही, १।९।१७१

११३. ···से जा इमा इत्थिया भवति एगा एगजाया···

—दशा० पृ० ४२३

११४. पञ्चिमानानि ठानानि दुल्लभानि अकतपुञ्ञेन मातुगामेन···असपत्ति अगारं अज्झावसेय्यं···

—संयुत्त० ३।२२१

११५. महाव० पृ० २८९

धन है आदि।[११६] जैनागम उपासकदशांग में भी स्त्री-धन की चर्चा उपलब्ध होती है।[११७]

इस प्रकार के धन का उपयोग पत्नी अपनी खुशी से करती थी। जीवक ने जब सेठ को पत्नी को स्वस्थ कर दिया तो उसे सेठ की गृहपत्नी तथा पुत्रवधू ने भी अपनी ओर से चार-चार हजार दिये थे।[११८] पत्नी की मृत्यु के बाद उसकी सम्पत्ति पर प्रायः उसके पुत्र का अधिकार हो जाता था।

गृहपत्नी एवं समाज :

गृहपत्नी के अच्छे या बुरे कार्य की प्रतिक्रिया न केवल परिवार तक ही सीमित रहती थी अपितु समाज में भी उसकी चर्चा होती थी। वैदेहिका नामक गृहपत्नी के सुन्दर व्यवहार से समाज में उसका यश फैल गया था तथा मनुष्यों में उसके गुणों की चर्चा होने लगी थी।[११९] किन्तु जब उसने अपने दुष्ट-स्वभाव का प्रयोग किया तो उसकी कीर्ति अपकीर्ति में बदल गई।[१२०] इसी प्रकार जब नागश्री द्वारा दिये गये आहार को

---

११६. इदं ते, तात रट्ठपाल, मत्तिकं धनं, अञ्ञं पेत्तिकं···

—मज्झिम० २।२८८

११७. तस्स णं महासयगस्स रेवईए भारियाए कोलघरियाओ अट्ठहिरण्णकोडीओ ····अवसेसाणं दुवालसण्हं भरियाणं कोलघरिया एगमेगा हिरण्णकोडी··· होत्था।

—उपा० ८।२३०

११८. अथ खो सेट्ठिभरिया अरोगा समाना जीवकस्स कोमारभच्चस्स चत्तारि सहस्सानि पादासि···सुणिसा—सस्सु मे अरोगा ठिता ति चत्तारि सहस्सानि पादासि।

—महाव० पृ० २८९

११९. ····वेदेहिकाय, भिक्खवे, गहपतानिया एवं कल्याणो कित्तिसद्दो अब्भुग्गतो—'सोरता वेदेहिका गहपतानी, निवाता···उपसन्ता···'।

—मज्झिम० १।१६७

१२०. ···चण्डी वेदेहिका गहपतानी···

—मज्झिम० १।१६९

खाकर मुनि धर्मरुचि की मृत्यु हो गई तो समाज में उसकी अपकीर्ति फैल गई।[१२१] कभी-कभी तो समाज की अपकीर्ति को प्राप्त पत्नी को मारपीटकर परिवार से भी निकाल दिया जाता था।[१२२] अत: आगम-कालीन-समाज में पत्नी को परिवार के साथ-साथ समाज का भी उचित ध्यान रखना पड़ता था।

जननी

भारतवर्ष में सदैव से जननी का सर्वश्रेष्ठ स्थान रहा है। इसके विषय में दो मत नहीं हो सकते हैं। कारण, माता अपने पुत्र के लिए जो त्याग करती है, जो कष्ट सहन करती है वे अन्य व्यक्ति की क्षमता के बाहर हैं। माता अपनी सन्तान को ९ मास तक गर्भ में रखती है, उसे अपना रक्तदान करती है। जन्म लेने के अनन्तर सन्तान का सर्वाधिक सम्बन्ध माँ से ही रहता है। अतः माता को स्वर्ग से भी श्रेष्ठ माना जाता है।

वैदिक-कालीन स्थिति :

वैदिक-युग में जननी का सर्वश्रेष्ठ स्थान रहा है। वेदों में माता के प्रति अत्यन्त श्रद्धाजनक विचार पाये जाते हैं। परमात्मा को पिता के साथ-साथ माता के रूप में भी देखा गया है।[१२३] अथर्ववेद में माता के प्रति उत्तम आचरण का विधान किया गया है।[१२४] वैदिक-काल में सन्तानोत्पत्ति को अत्यधिक महत्त्व दिया जाता था। अतः

---

१२१. ...बहुजणो अन्नमन्नस्स एवमाइक्खइ—धिरत्थु, णं नागसिरीए माहणीए जाव जीवियाओ ववरोविए।

—नाया० १।१६।११३

१२२. तए णं ते माहणा...तज्जिता तालित्ता सयाओ गिहाओ निच्छुभंति।

—वही

१२३. त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ।

—ऋग्वेद० ८।९८।११

१२४. मात्रा भवतु संमनाः। —अथर्व० ३।३०।२

ऐसी स्त्रियाँ जो सन्तान को जन्म दे लेती थीं, सामाजिक दृष्टि से उत्तम मानी जाती थीं।

उत्तर-वैदिक-कालीन स्थिति :

उत्तर-वैदिक-काल में ऋणमुक्ति के सिद्धान्त से माता को अत्यधिक विशिष्ट स्थान प्राप्त हो गया क्योंकि जब पत्नी पुत्र को जन्म देकर मातृत्व पद की प्राप्ति करती थी तो पुरुष की भी अपूर्णता समाप्त हो जाती थी तथा वह पितृ-ऋण से मुक्त हो जाता था। धर्मसूत्रों में भी माता की प्रशंसा प्राप्त होती है। गौरव की दृष्टि से माता को पिता से हजारगुना अधिक माना गया है।[१२५] जाति से च्युत माता के भरण-पोषण का भी विधान किया गया है।[१२६] उत्तर-वैदिक-काल में वन्ध्या स्त्री का जन्म निरर्थक-सा माना जाता था। पति के लिए पत्नी के वन्ध्या होने पर द्वितीय पत्नी लाने का भी विधान उपलब्ध होता है।[१२७]

इन सब कारणों से सूत्रकाल में भी माता को उचित सम्मान प्राप्त होता था। उस समय जब कि अन्य नारीवर्गों को धार्मिक-दृष्टि से महत्त्वहीन माना जाता था, माता कुछ सीमा तक धार्मिक-कार्यों में भाग लेती थी। उदाहरण के लिए उपनयन संस्कार में, जो कि धार्मिकदृष्टि से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण था, माता को पुत्र के श्रेष्ठ हितैषी के रूप में माना

---

१२५. उपाध्यायान्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता।

सहस्रं तु पितृन्माता गौरवेणातिरिच्यते॥

—मनुस्मृ० २।१४५

तुलना कीजिए—महा० १३।१०५।१५; व० ध० सू० १३।२८

१२६. माता पुत्रत्वस्य भूयाँसि कर्माण्यारभते तस्याँ शुश्रूषा पतितायामपि।

—आ० ध० सू० १।१०।२८।६

१२७. अन्यतराभावे कार्या प्रागग्न्याधेयात्।

—वही, २।५।११।१३

जाता था, इसीलिए पुत्र प्रथम दिन भिक्षा के लिए सर्वप्रथम माँ के पास जाता था।[128]

सारांश यह कि वैदिक तथा उत्तर-वैदिक-काल में माता ही एक ऐसी पात्र थी जिसे सामाजिक, पारिवारिक, धार्मिक आदि सभी दृष्टियों से महत्त्व दिया जाता था।

आगम-कालीन स्थिति :

बौद्ध एवं जैन-युग में माता के प्रति अत्यधिक सम्मान प्रकट किया जाता था। बौद्धागमों में माता के प्रति अनेक सम्मानजनक उल्लेख मिलते हैं। कहा गया है कि दो जनों का प्रत्युपकार करना सहज नहीं है—माता का तथा पिता का अर्थात् माता-पिता के उपकारों से उऋण होना अत्यन्त कठिन है।[129] माता का पोषण करना, उसको प्रसन्न रखना पुण्यकारक कृत्य था तथा उसे करने में भोगों का सदुपयोग माना जाता था।[130] माता-पिता के प्रति उचित व्यवहार करने वाले को पण्डित एवं सत्पुरुष कहा गया है।[131] मनुष्य को जिन चार व्यक्तियों

---

१२८. (क) अथ भैक्षं चरति मातरमेवाग्रे द्वे चान्ये सुहृदौ यावत्वां वा सन्निहिताः···
—गो० गृ० सू० २।१०।४२–४३

(ख) मातरं प्रथमामेके।
—पा० गृ० सू० २।५।७

१२९. द्विन्नाहं, भिक्खवे, न सुप्पतिकारं वदामि—मातु च पितु च। एकेन अंसेन मातरं परिहरेय्य···न त्वेव, भिक्खवे, मातापितूनं कतं वा होति पटिकतं वा।
—अंगुत्तर० १।५९

१३०. (क) धम्मेन भिक्खं परियेसित्वा मातापितरो पोसेति, बहुं सो पुञ्ञं पसवती'ति।
—संयुत्त० १।१८१

(ख) पञ्चिमे, गहपति, भोगानं आदिया···मातापितरो सुखेति····
—अंगुत्तर० २।३१०

१३१. द्वीसु, भिक्खवे, सम्मापटिपज्जमानो पण्डितो वियत्तो सप्पुरिसो···होति··· मातरि च पितरि च।
—वही, १।८३

का सम्मान करना विहित था उनमें प्रथम स्थान माता का था।[132] साथ ही उन कुलों को उत्तम माना जाता था जिनमें माता का सम्मान होता था।[133] इसके विपरीत माता-पिता के साथ अनुचित व्यवहार करने वाले व्यक्ति को मूर्ख कहा जाता था।[134] जो समर्थ होने पर भी माता-पिता का पोषण नहीं करता था उस व्यक्ति को वृषल कहते थे।[135] तात्पर्य यह कि बौद्ध-युग में माता-पिता के प्रति सद्व्यवहार उत्तम-पुरुष एवं असद्व्यवहार अधम-पुरुष का लक्षण माना जाता था।

जैन-युग में भी माता-पिता की सेवा को महत्त्व दिया जाता था। तत्कालीन समाज में यह मान्यता थी कि माता-पिता की सेवा करने से इहलोक एवं परलोक में शान्ति मिलती है।[136]

जननी की ममता :

माता के प्रति पूर्वोक्त सम्मानजनक उल्लेखों से यह स्पष्ट होता है कि बौद्ध एवं जैन-युग में माता की ममता एवं सेवा का उचित मूल्यांकन किया जाता था। इसका प्रधान कारण यह था कि माता ही परिवार की ऐसी सदस्य थी जिसे अपने जीवन से भी अधिक प्रिय अपने पुत्र का

---

१३२. वही, २।६

१३३. सब्रह्मकानि ''' सपुब्बाचरियकानि साहुनेय्यानि तानि कुलानि येसं पुत्तानं मातापितरो अज्झागारे पूजिता होन्ति।

—वही, १।१२२

१३४. मातरि मिच्छापटिपज्जमानो बालो अब्यत्तो''''

—अंगुत्तर० २।५

१३५. यो मातरं पितरं वा जिण्णकं गतयोब्बनं।
पहु सन्तो न भरति तं जञ्ञा वसलो इति॥

—सुत्तनिपात, १।७।१२४

१३६. मायरं पियरं पोस एवं लोगो भविस्सइ।
एवं खु लोइयं ताय जे पालेन्ति य मायरं॥

—सूय० १।३।२।४

जीवन था।[१३७] पिता को पुत्र के प्रति उपेक्षित होते देखा गया है किन्तु माता को नहीं। उदाहरण के रूप में अंगुलिमाल जब अपने दुष्ट कर्म से विरत नहीं हुआ तो राजा ने उसे बन्दी बनाने के लिए सेना भेजी। पिता राजा द्वारा पुत्र को पकड़ने के लिए भेजी गई सेना के समाचार से बिलकुल चिन्तित नहीं हुआ किन्तु माता अपने जीवन की चिन्ता किये बिना ही पुत्र की रक्षा के हेतु उसके पास गई।[१३८]

इसके अतिरिक्त बौद्धागमों में प्राप्त उल्लेखों से यह भी ज्ञात होता है कि पिता अपने नवजात शिशु को छोड़कर प्रव्रज्या लेने में संकोच नहीं करता था,[१३९] जब कि उस परिस्थिति में स्त्री प्रव्रज्या लेने का विचार भी मन में नहीं लाती थी। जब कभी अपने पुत्र को लेकर पत्नी प्रव्रजित पति के पास जाती थी तथा पति से पुत्र के पोषण का अनुरोध करती थी तो वह अनुरोध पति को उसकी साधना से विरत करने में असफल रहता था। इतना ही नहीं, प्रत्युत इस प्रकार की अडिग साधना को प्रशंसा भी की जाती थी।[१४०] इसके विपरीत यदि कोई स्त्री भिक्षुणी बनने के उपरान्त, सन्तान को जन्म देती थी तो उसे संघ की ओर से सन्तान के उचित पालन का निर्देश दिया जाता था तथा आवश्यकता होने पर उस मातृत्व को प्राप्त भिक्षुणी की सेवा में अन्य भिक्षुणी को नियुक्त कर दिया जाता था।[१४१] यही कारण है कि माता

१३७. माता यथा नियं पुत्तमायुसा एकपुत्तमनुरक्खे।

—खुद्दक० ९।७

१३८. थेर० (हि०) पृ० २०६–२०७।

१३९. सचे पुत्तं सिगालानं कुक्कुरानं पदाहिसि।
न मं पुत्तकते जम्मि पुनरावत्तयिस्ससि॥

—थेरी० २३।३।३०४

१४०. "एसो ते समण, पुत्तो, पोस नं" ति। अथ खो आयस्मा सङ्गामजि तं दारकं नेव ओलोकेसि ना पि आलपि····

—उदा० २।८

१४१. "अनुजानामि भिक्खवे, पोसेतुं याव सो दारको विञ्ञुतं पापुणाति" ति··· एकं भिक्खुनिं सम्मन्नित्वा तस्सा भिक्खुनिया दुतियं दातुं····

—चुल्ल० पृ० ३९९–४००

को घर का मित्र कहा गया है।[142] जहाँ-कहीं आदर्श प्रेम के विषय में कुछ कहा जाता था, जननी के पुत्रस्नेह को उपमा के रूप में प्रस्तुत किया जाता था।[143]

जैन-युग तक सन्तान के संरक्षण में पति-पत्नी एक-सा सहयोग देने लगे थे। जब तक पुत्र गृहकार्य के संचालन की क्षमता को प्राप्त नहीं कर लेता था, पिता दीक्षा नहीं लेता था। जहाँ तक माता का प्रश्न है, वह प्रायः दीक्षा नहीं लेती थी। जैन-आगमों में केवल उन्हीं नारियों के द्वारा दीक्षा लेने के उल्लेख मिलते हैं जो कुमारी होती थीं अथवा विवाहित होने के उपरान्त वन्ध्या या पतिस्नेह से रहित होती थीं। जैन-युगीन माता की यह इच्छा रहती थी कि वह अपने जीवन का उपयोग पुत्र के संरक्षण में ही करे।[144]

जैनागमों में भी माता का हृदयस्पर्शी स्नेह प्राप्त होता है। जब कोई व्यक्ति प्रव्रज्या लेने के पूर्व अपने माता-पिताओं की स्वीकृति लेने जाता था, तो माता पुत्र की इच्छा सुनते ही मूर्च्छित हो जाती थी तथा चैतन्यावस्था में आने पर तरह-तरह से यह प्रयास करने लगती थी कि उसके जीवनपर्यन्त पुत्र प्रव्रज्या न ले।[145]

मातृत्व की लालसा :

जैन-युगीन नारियों में मातृत्व-प्राप्ति के हेतु किये गये प्रयत्नों के स्पष्ट उल्लेख मिलते हैं। जब किसी स्त्री के सन्तान नहीं होती थी, तो

---

१४२. माता मित्तं सके घरे।

—संयुत्त० १।३५

१४३. सुत्तनिपात, १।८।१४९।

१४४. तं भुंजाहि ताव जाया! विपुले···जाव···ताव वयं जीवामो। तओ पच्छा···पव्वइस्ससि।

—नाया० १।१।२८

१४५. तए णं सा धारिणी देवी कोट्टिमतलंसि सव्वंगेहिं धसत्ति पडिया···

—वही, १।१।२७

वह नाग, भूत, यक्ष, इन्द्र आदि की प्रतिमाओं का सविधि पूजन कर उनसे सन्तान-प्राप्ति की प्रार्थना करती थी।[१४६]

मातृ-वध :

प्राचीन-भारत में माता के वध की घटनाएँ भी होती थीं। कौषीतकि-उपनिषद् में इसे अत्यन्त दारुण पाप बतलाया गया है।[१४७] बौद्ध-आगमों में भी मातृवध की चर्चा उपलब्ध होती है। अंगुत्तरनिकाय में कहा गया है कि माता का वधरूप कृष्ण-कर्म करने वाला कृष्ण-फल का भागी होता है।[१४८] अन्य एक स्थल पर माता की हत्या को घोर पाप बताया गया है।[१४९] माता के हत्यारे को भिक्षुसंघ में प्रवेश करने का अधिकार नहीं था।[१५०] मातृवध की निन्दा के अनेक उल्लेख इस बात का संकेत करते हैं कि बौद्ध-युग में इस प्रकार के निकृष्ट कर्म का अस्तित्व था। जैनागमों में इस प्रकार के उल्लेखों का अभाव है। अतः कहा जा सकता है कि जैन-युग में मातृवध जैसा दारुण पाप इस मात्रा में नहीं होता था कि धार्मिक पुरुषों को उसकी निन्दा करने की आवश्यकता महसूस हो।

---

१४६. ...नगरस्स बहिया नागाणि य भूयाणि य....महरिहं पुप्फच्चणियं करेत्ता... दारगं वा दारिगं वा पयायामि तो णं अहं तुब्भं...अणुवड्ढेमि।

—वही, १।१।४० तथा विवाग० १।७।१३८

१४७. न मातुवधेन न पितृवधेन...नास्य पापं चन चकृषो मुखान्नीलं व्येतीति।

—१।३

१४८. एकच्चयेन माता जोविता वोरोपिता होति...इदं वुच्चति कम्मं कण्हं कण्ह-विपाकं।

—अंगुत्तर० २।२५०

१४९. मातरं पितरं हन्त्वा....अनीघो याति ब्राह्मणो।

—धम्म० २१।२९४

१५०. मातुघातको, भिक्खवे, अनुपसम्पन्नो न उपसम्पादेतब्बो....नासेतब्बो ति।

—महाव० पृ० ९१

मातृ-सेवा :

बौद्ध-आगमों में यद्यपि माता की सेवा करने का उपदेश तो प्राप्त होता है किन्तु माता की सेवा के विशद एवं प्रयोगात्मक उदाहरण उपलब्ध नहीं होते हैं। जैनागम विवागसुयं में पुष्यनन्दी राजा की मातृसेवा का वर्णन मिलता है। उसके अनुसार पुष्यनन्दी अपनी माता के पास जाकर उसके चरणों की वन्दना करता था। तत्पश्चात् शतपाक एवं सहस्रपाक तेलों से उसके शरीर की मालिश कर सुगन्धित मिट्टी से उबटन कर नहलाता था। फिर उसे भोजन कराता था। माता के भोजन कर लेने के बाद स्वयं भोजन करता था।[१५१]

माता की सम्पत्ति एवं प्रभुता :

बौद्धागमों में माता के धन का उल्लेख मिलता है, किन्तु इस प्रकार के धन का क्या उपयोग होता था या वह धन कहाँ से आता था, इसका विशेष उल्लेख नहीं मिलता है। सम्भवतः नैहर से प्राप्त धन माता की सम्पत्ति कही जाती थी।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, गृहस्वामिनी के रूप में गृहपत्नी ही घर के आन्तरिक-कार्यों का संचालन करती थी। गृहपत्नी के लिए इस अधिकारसम्पन्न गृहस्वामिनी के पद को प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक होता था कि वह सन्तानवती हो। सन्तानहीन पत्नी होने पर पुरुष दूसरी पत्नी ले आता था। सारांश यह कि नारी को परिवार की प्रभुता तभी प्राप्त होती थी, जब वह माता बन जाती थी।

जननी तथा बौद्ध एवं जैन-धर्म :

यद्यपि आगमों में सैद्धान्तिकरूप से जननी के प्रति अत्यन्त उदार भाव व्यक्त किये गये हैं तथा जननी की सेवा करने वाले व्यक्ति को

---

१५१. ...पूसनन्दो राया सिरीए देवीए मायाभत्तए यावि होत्था....देवीए सयपागसहस्सपागेहिं तेल्लेहिं अब्भिङ्गावेइ...तए णं पच्छा ण्हाइ वा भुञ्जइ वा...

—विवाग० १।९।१८१

सत्पुरुष बताया गया है किन्तु प्रयोगात्मकरूप इससे ठीक भिन्न मिलता है। पुत्र-पुत्री प्रव्रज्या लेते समय इस बात का जरा भी ध्यान नहीं रखते थे कि उनको माता-पिता की सेवा करनी चाहिये। सभी कुलपुत्र अपनी इच्छा से ही प्रव्रज्या लेते थे, यह कहना अनुचित होगा। उनको भिक्षु बनाने में भिक्षु-वर्ग अपने प्रभाव का उपयोग किया करता था। भिक्षु-वर्ग इस बात की चेष्टा करता था कि अधिक से अधिक भिक्षु बनें, अन्यथा राहुल जैसे आठ वर्ष के बच्चे को, जो कि अपनी माँ के कहने से बुद्ध के पीछे दायज्ज माँगने गया था, भिक्षुसंघ का सदस्य बनाने का कोई अर्थ ही नहीं था।[१५२] ऐसा प्रतीत होता है कि बौद्धागमों में माता-पिता, भार्या आदि के प्रति जो कर्त्तव्य बताये गये हैं, वे गृहस्थावस्था तक ही सीमित थे।

जैनागमों में भी यद्यपि माता-पिता की इच्छा की उपेक्षा कर कुल-पुत्रों के प्रव्रजित होने के उल्लेख पाये जाते हैं किन्तु उनपर प्रव्रज्या के लिए भिक्षुसंघ के प्रभाव का दबाव दृष्टिगोचर नहीं होता। अतः यह कहा जा सकता है कि जैन-युग में माता की सेवा को अपेक्षाकृत अधिक प्रयोगात्मकरूप दिया जाने लगा था।

विधवा

वैधव्य नारी-जीवन की महत्त्वपूर्ण अवस्था है, क्योंकि उससे पति-विहीन नारी के प्रति सामाजिक व्यवहार का ज्ञान होता है। प्राचीन भारत में विधवा की स्थिति, उसके जीवन-यापन के साधन, उसका पुनर्विवाह आदि ऐसे विषय हैं जिनके प्रति जनसाधारण की सहज जिज्ञासा रहती है। कारण, विधवा से सम्बन्धित समस्याएँ न केवल तत्कालीन नारी-जीवन पर ही प्रकाश डालती हैं अपितु उनसे सामाजिक वातावरण का भी बोध होता है।

---

१५२. तेन हि त्वं, सारिपुत्त, राहुलं कुमारं पब्बाजेही ति।

—महाव पृ० ८६

वैदिक-कालीन स्थिति :

वैदिक-काल में विधवा स्त्रियों की अवस्था सन्तोषजनक नहीं थी। ऋग्वेद से ज्ञात होता है कि उस समय की विधवाएँ या तो दुःख से या बलात्कार के भय से काँपती थीं।[१५३]

उत्तर-वैदिक-कालीन स्थिति :

उत्तर-वैदिक-काल में विधवा स्त्रियों की दशा पहले से भी ज्यादा शोचनीय हो गई थी। वे समाज में अमंगलसूचक समझी जाने लगी थीं। उन्हें किसी मंगलसूचक उत्सव या समारोह में उपस्थित होना निषिद्ध था। उनको सम्पत्ति का अधिकार नहीं के बराबर था। यहाँ तक कि पुत्रहीन विधवा स्त्रियों को वैधानिकरूप से पति की सम्पत्ति पर भी अधिकार नहीं था।[१५४]

आगम-कालीन स्थिति :

आगम-कालीन स्थिति पर लिखने के पूर्व यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि आगमों में विधवाओं से सम्बन्धित उल्लेखों की कमी है तथा जो हैं, वे भी उनकी स्थिति पर विशद प्रकाश नहीं डालते हैं। अतः तत्कालीन विधवाओं के चित्रण के लिए अनुमान का ही विशेष सहारा लेना होगा।

तत्कालीन समाज में न केवल वे ही स्त्रियाँ विधवा कही जाती थीं जिनके पति परलोकवासी हो जाते थे, अपितु ऐसी स्त्रियों को भी विधवा की श्रेणी में रखा जाता था जो किसी कारण से पतिहीन हो जाती थीं। महावग्ग में प्रव्रजित-व्यक्तियों की पत्नियों को विधवा कहा गया है।[१५५] जैनागमों में प्राप्त बाल-विधवा एवं मृतपतिका नामक भेदों से भी यही भाव प्रकट होता है।[१५६] अतः तत्कालीन समाज में विधवा शब्द का अर्थ पतिविहीन स्त्री था।

---

१५३. ऋग्वेद० १।८७।३; धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ० ३३०

१५४. वही, पृ० ३३०–३३२

१५५. वेधव्याय पटिपन्नो···

—महाव० पृ० ४१

सामाजिक-स्थिति :

बौद्ध एवं जैन-युग में विधवा-नारी की सामाजिक स्थिति दयनीय नहीं थी। यद्यपि विधवा होने से नारी को स्वतः अपूर्णता की अनुभूति होने लगती थी किन्तु सामाजिक दृष्टि से उनको बुरा नहीं माना जाता था। विधवा नारियाँ भी सधवाओं की तरह ही परिवार एवं समाज के सभी अधिकारों का उपभोग करती थीं। ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिलता है जिससे यह ज्ञात हो सके कि विधवा होने के बाद नारियाँ बालों को कटवा लेती थीं, रंगीन वस्त्र नहीं पहिनती थीं या किसी मांगलिक-कार्य में सहयोग नहीं करती थीं। इसके विपरीत प्राप्त उल्लेखों से यह ज्ञात होता है कि विधवा होने के बाद भी उसमें शारीरिक वस्त्राभूषणों का उपयोग करने की प्रवृत्ति में कोई अन्तर नहीं आता था। यह बात दूसरी है कि कोई विधवा-नारी अपनी इच्छा से प्रसाधन में रुचि न ले। उदाहरणस्वरूप जब महाप्रजापती गौतमी बुद्ध से पहली बार कपिलवस्तु के न्यग्रोधाराम में मिली, तो उस समय उसने विधवा होते हुए भी न तो केशों को ही कटवाया था, और न ही किसी विशिष्ट प्रकार के वस्त्रों को ही धारण किया था।[१५७] थावच्चा (स्थापत्या) ने पुत्र के विवाह जैसे मांगलिक-कार्य में प्रमुख भाग लिया था।[१५८] इसी प्रकार रट्ठपाल तथा सुदिन्न के प्रव्रजित हो जाने पर भी उनकी पत्नियों ने अलंकारादि का उपयोग किया था।[१५९] अतः आगमों से ऐसा कोई आभास नहीं मिलता कि तत्कालीन विधवा की स्थिति सामाजिक दृष्टि से दयनीय थी।

---

१५६. अंतो⋯मयपइयाओ बालविहवाओ⋯

—औ० सू० पृ० १६७

१५७. चुल्ल० पृ० २७३

१५८. तए णं सा थावच्चा गाहावइणी तं दारगं⋯बत्तीसाए इब्भकुलबालियाहिं एगदिवसेणं पाणिं गेण्हावेइ⋯

—नाया० १।५।५८

१५९. "एथ तुम्हे वधुयो⋯तेन अलङ्कारेन अलङ्कारोथ⋯

—मज्झिम० २।२८८; पारा० पृ० २२

जातक में एक जगह अवश्य वैधव्य-जीवन के कष्टों की चर्चा की गई है। कहा गया है कि विधवा को उच्छिष्ट खाना भी नहीं मिलता है तथा कोई भी उस अनिच्छुक को हाथ से पकड़कर खींचता है। बालों मे पकड़कर (?) भूमि पर गिरा देते हैं और इस प्रकार बहुत दुःख देकर भी खड़े देखते रहते हैं। पाउडर लगाकर अपने आपको सुन्दर माननेवाले, विधवा स्त्री की कामना करनेवाले लोग उस अनिच्छुक को कुछ भी देकर उसे वैसे ही खींचते हैं जैसे कौवे उल्लू को। स्वर्ण जैसे समृद्ध कुल में रहकर भी विधवा को भाई और सखियों के तिरस्कार वचन सहने ही पड़ते हैं। दस भाई होने पर भी विधवा स्त्री उसी प्रकार नंगी होती है, जिस प्रकार बिना जल के नदी तथा बिना राजा के राष्ट्र नंगा होता है।[१६०]

उक्त कथन को बौद्ध या जैन-युग की विधवा का चित्रण नहीं कहा जा सकता है। सम्भव है, यह स्थिति बौद्ध एवं जैन-युग के बीच में रही हो अथवा हिन्दू धर्म के प्रभाव का परिणाम हो।

सती-प्रथा एवं उसका आगमों में अभाव :

सती-प्रथा १८वीं सदी तक भारतवर्ष में प्रचलित थी। उस समय तक मृत-पति की चिता में जलकर भस्म हो जाना विधवाओं का धर्म माना जाता था।[१६१] यद्यपि आज इस प्रथा को अपराध माना जाता है किन्तु प्राचीन भारत की विधवा-स्त्रियों के इतिहास में इसके विषय में लिखना आवश्यक है।

---

१६०. अविस्सा होति अप्पत्तो उच्छिट्ठमपि भुञ्जितुं।
यो नं हत्थे गहेत्वान अकामं परिकड्ढति।
केसग्गहणमुक्खेपा भूम्या च परिसुम्भना।
दत्वा च नोपक्कमति बहुदुक्खं अनप्पकं।
नेवाभिवाक्यं न लभे भातूहि सखिनीहि च।
वेधव्यं कटुकं लोके गच्छक्खेव रथेसभ॥

—जातक २२।५४७।१८३६–३९ तथा आगे

१६१. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ० ३४८

इस प्रथा के उद्भव के विषय में प्रामाणिकरूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। वैदिक-साहित्य में इस प्रथा के विषय में कोई उल्लेख नहीं मिलता है। उत्तर-वैदिक-साहित्य के प्रमुख ग्रन्थ रामायण, महाभारत, विष्णु-स्मृति, वेदव्यास-स्मृति प्रभृति ग्रन्थों में अवश्य सती-प्रथा सम्बन्धी उल्लेख प्राप्त होते हैं,[१६२] किन्तु वे उल्लेख अत्यन्त कम एवं छिटपुट हैं अतः उनके आधार पर यह कहना अत्यन्त कठिन है कि उत्तर-वैदिक-काल में इस प्रथा का प्रचलन जन-सामान्य में था। किन्तु उन उल्लेखों से इस तथ्य को स्वीकार किया जा सकता है कि उस समय भी सती-प्रथा की घटनाएं होती थीं।

आगमो में सती-प्रथा के प्रचलन का कोई भी संकेत नहीं मिलता है। अतः स्पष्ट है कि बौद्ध एवं जैन-युग में सती-प्रथा का पूर्णतया अभाव था। यदि तत्कालीन-समाज में सती-प्रथा का जरा सा भी प्रचलन होता तो जीवहिंसा के विरोधी बुद्ध या महावीर के उपदेशों में उस क्रूर प्रथा की अवश्य निन्दा की गई होती। सती-प्रथा का पूर्ण-रूपेण अभाव भी तत्कालीन-विधवाओं की अदयनीय स्थिति का ही द्योतक था।

जीवन-यापन के साधन :

विधवा-स्त्री निम्न तीन साधनों में से किसी एक का अवलम्बन ले कर अपना जीवन यापन करती थी—

---

१६२. (क) ततो मे जननी दीना तच्छरीरं पितुर्मम।
परिष्वज्य महाभागा प्रविष्टा हव्यवाहनम्॥

—रामा० ७।१७।१५

(ख) पतिव्रता संप्रदीप्तं प्रविवेश हुताशनम्।

—महा० १२।१४८।१०

(ग) मृते भर्त्तरि ब्रह्मचर्यं तदन्वारोहणं वा।

—विष्णुस्मृ० २५।१४

(घ) मृतं भर्त्तारमादाय ब्राह्मणी वह्निमाविशेत्।

—व्यासस्मृ० २।५३

१. पति की सम्पत्ति

२. ज्ञाति-कुल का संरक्षण

३. पर-पुरुष का ग्रहण

अतः बौद्ध-युग में प्रव्रज्या लेने के पूर्व व्यक्ति अपनी स्त्रियों के सम्मुख जीवन-यापन के लिए उक्त तीन साधनों को प्रस्तुत कर किसी एक को चुनने का अधिकार दे देता था।[163]

पति की सम्पत्ति—वैभव-सम्पन्न-कुल की विधवाएं पति की सम्पत्ति को ही अपने जीवन-यापन का साधन बनाती थीं। सुन्दरी के पिता ने प्रभूत धन छोड़कर प्रव्रज्या ली थी जिसको सुन्दरी की माँ ने जीवन-यापन का साधन बनाया।[164] सोणा भी पति के प्रव्रजित होने पर उनकी सम्पत्ति की स्वामिनी हो गई थी।[165] इसी प्रकार स्थापत्या (थावच्चा) सार्थवाही ने भी पति के धन को ही जीवन-यापन का साधन बनाया क्योंकि उसका व्यापार का आधार पति के द्वारा अर्जित धन ही था।[166] जब नवविवाहित वधू का पति प्रव्रज्या ले लेता था तो वधू विधवा-अवस्था में पतिजन्यसुख से अवश्य वंचित हो जाती थी, फिर भी उसके भरण-पोषण की व्यवस्था ससुर-कुल में पूर्ववत् रहती थी। इतना अवश्य था कि विधवा-स्त्री को अपूर्ण समझा जाता था। यही कारण था कि नवयुवकों की प्रव्रज्या से परेशान होकर मनुष्यों ने बुद्ध को कोसना

१६३. या इच्छति सा इधेव भोगे च भुञ्जतु, पुञ्ञानि च करोतु, सकानि वा ञातिकुलानि गच्छतु। होति वा पन पुरसाधिप्पायो, कस्स वो दम्मी ति?

—अंगुत्तर० ३।३१६

१६४. हत्थी गवस्सं मणिकुण्डलं च
फीतञ्चिमं गहविभवं पहाय।
पिता पब्बजितो तुय्हं····

—थेरी० १३।४।३२८

१६५. थेरी अप० ३।६।२३१

१६६. तत्थ णं बारवईए थावच्चा नामं गाहावइणी परिवसइ अड्ढा जाव अपरिभूया।

—नाया० १।५।५८

प्रारम्भ कर दिया था कि श्रमण गौतम विधवा बनाने के लिए आया है।[१६७]

पति की मृत्यु के अनन्तर उन विधवा स्त्रियों का जीवन अवश्य कष्टों से परिपूर्ण हो जाता था जो वन्ध्या रहती थीं। कारण, वन्ध्या होने से उसकी सौत का होना अनिवार्य रहता था तथा सन्तानवती सौत उस वन्ध्या को पति के धन के सहारे जीवन व्यतीत नहीं करने देती थी।[१६८]

ज्ञाति-कुल का संरक्षण— कभी-कभी विधवा-स्त्रियाँ ज्ञाति-कुल की शरण में चली जाती थीं। जिन विधवाओं के पास स्वतन्त्ररूप से जीवन-यापन के लिए पर्याप्त साधन नहीं होते थे या जो बिना संरक्षण के नहीं रह सकती थीं, वे अपने ज्ञाति-कुल का संरक्षण प्राप्त करती थीं। ज्ञाति-कुल में माता-पिता, भाई-बहिन, कुटुम्बी, सधर्मी एवं सगोत्री प्रमुख थे। इन ज्ञाति-कुलों से संरक्षित स्त्रियों के साथ कामसेवन निषिद्ध था।[१६९]

किन्तु ऐसी स्त्रियों का, जिनके पास न तो पति द्वारा उपार्जित सम्पत्ति होती थी और न ही जो ज्ञाति-कुल से सम्पन्न होती थीं, वैधव्य-जीवन कष्टकारक होता था। चन्दा दरिद्र व्यक्ति की कन्या थी तथा दरिद्र व्यक्ति को ही ब्याही गई थी। जिस समय वह विधवा हुई, वह निस्सन्तान थी। अतः वैधव्य-जीवन में उसे भोजन एवं वस्त्र भी उपलब्ध नहीं होते थे।[१७०] इसी प्रकार जब पटाचारा का पति दरिद्र-अवस्था में ही मर गया तथा उसके दोनों पुत्रों की जीवनलीला नदी के प्रवाह एवं गिद्ध के कारण समाप्त हो गई, तो वह सीधी अपने माता-पिता के घर गई। दुर्भाग्य से उसी दिन एक ही चिता में उसके माता-पिता

---

१६७. देखिए—विवाह, उद्ध० ११०

१६८. देखिए—वैवाहिक-जीवन, उद्ध० १०७

१६९. देखिए—विवाह, उद्ध० ७९

१७०. दुग्गताहं पुरे आसिं विधवा च अपुत्तिका।
विना मित्तेहि ञातीहि भत्तचोळस्स नाधिगं॥

—थेरी० ५।१२।१२२

एवं भाई की दाहक्रिया की जा रही थी। जिसे देखकर वह पागल हो गई। पति-पुत्र एवं ज्ञाति-जनों से हीन पटाचारा को अनेक कष्टों से परिपूर्ण वैधव्य-जीवन बिताना पड़ा था।[१७१]

तात्पर्य यह कि विधवा-जीवन को सुखद बनाने के लिए पति की सम्पत्ति, पुत्र, ज्ञाति-वर्ग सहायक होते थे, तथा एकाकी-विधवा दुःखों की पात्र होती थी।

पर-पुरुष का ग्रहण— कभी-कभी प्रव्रजित पुरुष की नव-विवाहित पत्नी दूसरे पुरुष को ग्रहण कर लेती थी। चूंकि पत्नी का यह कृत्य प्रथम पति की अनुमति से होता था, अतः इसे विवाह की संज्ञा नहीं दी जाती थी। जब पति पत्नी को दूसरे पुरुष को ग्रहण करने का अधिकार दे देता था तो कोई-कोई पत्नी उसका उपयोग भी कर लेती थी। उदाहरणस्वरूप उग्र गृहपति द्वारा पूछे जाने पर उसकी बड़ी पत्नी ने पर-पुरुष के पास जाने की इच्छा व्यक्त की थी।[१७२] यह प्रथा अधिक प्रचलित नहीं थी। यही कारण था कि अपनी पत्नी को पर-पुरुष को दान में देकर खिन्न न होना आश्चर्यजनक घटना मानी जाती थी।[१७३] सामान्यतया यदि पत्नी किसी कारणवश पति को छोड़कर अन्य-पुरुष के पास जाती थी तो पति-कुल कलंकित हो जाता था। अतः व्यक्ति को प्रव्रज्या जैसे कार्यों से रोकने के लिए यह स्मरण कराया जाता था कि अभी उसकी पत्नी युवा है। अतः

१७१. द्वे पुत्ता कालकता, पतो च पन्थे मतो कपणिकाय।
माता पिता च भाता डय्हन्ति च एकचितकायं॥
खीणकुलीने कपणे, अनुभूतं ते दुक्खं अपरिमाणं।

—वही, १०।१।२१९–२२०

१७२. देखिए—उद्ध० ८५

१७३. ····दारं परिच्चजन्तो नाभिजानामि चित्तस्स अञ्ञथत्तं। अयं खो मे भन्ते ततियो अच्छरियो····

—अंगुत्तर० ३।३१६

उसके प्रव्रजित होने पर कहीं वह दूसरे पुरुष के पास न चली जाय[१७४]।

इसके अतिरिक्त ब्राह्मण या क्षत्रिय-वर्ग की स्त्रियाँ वैधव्य-अवस्था में भी इस साधन का सहारा नहीं लेती थीं। महागोविन्द ब्राह्मण ने अपनी ४० पत्नियों को दूसरा पति खोजने का अधिकार दिया था किन्तु पत्नियों ने यह कहकर उस अधिकार को ठुकरा दिया था कि आप ही हमारे सम्बन्धी हैं तथा आप ही हमारे पति। अतः यदि आप प्रव्रज्या ले रहे हैं तो हम सब भी लेंगी। जैसे आप रहेंगे, वैसे ही हम भी रहेंगी।[१७५]

कभी-कभी विधवा-स्त्रियाँ जीवन-यापन के उक्त तीनों उपायों को न अपनाकर भिक्षुणी बन जाती थीं तथा भिक्षुणी-संघ की वरिष्ठ भिक्षुणी के संरक्षण में अपना जीवन बिताती थीं।

पुनर्विवाह :

विधवाओं का पुनर्विवाह होता था या नहीं, यह प्रश्न विचारणीय है। वैदिक-काल में विधवा के लिए पुनर्विवाह का अधिकार था। इसका प्रमुख कारण यह था कि उस समय सन्तानोत्पत्ति को अत्यधिक महत्त्व प्रदान किया जाता था। अतः पति के मर जाने के बाद देवर या निकट सम्बन्धी से विवाह कर सन्तानोत्पत्ति करना बुरा नहीं माना जाता था।[१७६] नियोग-प्रथा का भी यही उद्देश्य था। किन्तु बौद्ध-जैन-

---

१७४. भारिया ते नवा ताय मा सा अन्नं जणं गमे।

—सूय० १।३।२।५

१७५. त्वञ्ञेव नो ञाति ञातिकामानं, त्वं पन भत्ता भत्तुकामानं। ...अथ या ते गति सा नो गति भविस्सती'ती।

—दीघ० २।१८५

१७६. The remarriage of a widow was apparently permitted. ...the marriage of the widow to the brother or other nearest kinsman of the dead man in order to produce children.

—Vedic Index, 1.476–477

युग में ऐसी स्त्री का, जिसका पति मर चुका हो, पुनर्विवाह सामाजिक-दृष्टि से मान्य नहीं था। यद्यपि कुछ ग्रन्थों में नकुलमाता के उस कथन को लेकर विधवाओं के पुनर्विवाह के प्रचलन का अनुमान किया गया है[१७७] जिसमें नकुलमाता ने पति के मरने के बाद भी पर-पुरुष के पास न जाने का निश्चय व्यक्त कर पति को निरपेक्ष-भाव से मरने का सुझाव दिया था। जब नकुलमाता के उक्त कथन के पूर्वप्रसंग पर दृष्टिपात करते हैं तो ज्ञात होता है कि उसने अपने पति नकुलपिता से उक्त निश्चय इसलिए प्रकट किया था कि मृत्यु-शय्या पर पड़ा हुआ नकुलपिता इसी आशंका से दुःखी हो रहा था कि कहीं उसकी पत्नी उसके मरने के बाद पर-पुरुष के पास न चली जाय।[१७८] अतः उक्त कथन से यही व्यक्त होता है कि विधवा का विवाह तत्कालीन-समाज में उत्तम नहीं माना जाता था। इसके अतिरिक्त आगमों में ऐसी भी विधवा-स्त्रियों की चर्चा आई है जो पर-पुरुष को चाहती थीं किन्तु वे सफल नहीं होती थीं। भिक्षुओं से ऐसी विधवा-स्त्रियों के सम्पर्क से दूर रहने के लिए कहा जाता था।[१७९] यदि सामाजिक-दृष्टि से विधवा-विवाह को मान्यता रही होती तो कामभोग की इच्छा होने पर विधवा-स्त्रियाँ भिक्षु या अन्य पुरुष को जाल में फसाने के बदले दूसरा विवाह कर लेतीं। तथ्य यह है कि तत्कालीन-समाज में पत्नी बनने के लिए कन्या को अविधवा होना आवश्यक माना जाता था।[१८०]

---

१७७. (a) Women Under Primitive Buddhism, p. 77

(b) The Status of Women in Ancient India, p. 246.

१७८. सिया खो पन ते, गहपति, एवमस्स—'नकुलमाता गहपतानी ममच्चयेन अञ्ञं घरं गमिस्सती'ति···

—अंगुत्तर० ३।१७

१७९. पञ्चहि धम्मेहि···भिक्खु उस्सङ्कितपरिसङ्कितो होति···इध, भिक्खवे, भिक्खु वेसियागोचरो वा होति विधवागोचरो वा होति···

—अंगुत्तर० २।३८४

१८०. पसाहणट्ठंगअविहव···

—नाया० १।१।२४

विधवाओं के पुनर्विवाह की प्रथा न होने का यह कारण हो सकता है कि ऐसी स्त्री जिसका पति मर चुका हो, पत्नी बनाने के लिए अशुभ मानी जाती रही हो। उस समय विवाह के लिए ऐसी कन्या का चयन किया जाता था जिसके पत्नी वनने के बाद पतिकुल की समृद्धि हो।

आगमों में नियोग-प्रथा के भी उदाहरण प्राप्त नहीं होते हैं। कारण, उस समय सन्तानोत्पत्ति करना स्त्री या पुरुष के जीवन का एकमात्र उद्देश्य नहीं रह गया था।

सारांश यह कि बौद्ध एवं जैन-संस्कृति में विवाह एवं सन्तानोत्पत्ति को प्रश्रय न दिये जाने से न तो वैधव्य को घृणा की दृष्टि से देखा जाता था और न ही सन्तान-हीन विधवा के लिए सन्तान-प्राप्ति के हेतु पुनर्विवाह या नियोग का आश्रय लेना विहित था।

●

वृत्ति-जीविनी

परिचारिका

वैदिक-कालीन स्थिति

उत्तर-वैदिक-कालीन स्थिति

आगम-कालीन स्थिति

दासी

दासी के भेद

दासी के कार्य

दासी के प्रति स्वामी का व्यवहार

दासी और धर्म

दासता से मुक्ति

दाई

मनोरंजन करने वाली परिचारिकाएँ

गणिका

स्वरूप, उद्भव एवं विकास

गुण

आय

वैभव

गणिका एवं समाज

प्रभुता एवं स्वाधीनता

धार्मिक-प्रवृत्ति

वेश्या

वैदिक एवं उत्तर-वैदिक-कालीन स्थिति

आगम-कालीन स्थिति

स्वरूप

गुण

आर्थिक स्थिति

सामाजिक स्थिति

धार्मिक स्थिति

●

: ४ : वृत्ति-जीविनी

आगम-कालीन समाज में परिवार की स्त्रियाँ जीविकोपार्जन का भार वहन नहीं करती थीं। वे वैदिक एवं उत्तर-वैदिक-काल की नारियों की भाँति[1] बचपन में पिता, विवाहोपरान्त पति एवं वृद्धावस्था में पुत्रों के संरक्षण में ही रहकर अपना जीवन व्यतीत करती थीं। पिता, पति या पुत्र का यह कर्त्तव्य था कि वह धनोपार्जन कर अपनी पुत्री, पत्नी या माता का भरण-पोषण करे।[2]

यद्यपि उपर्युक्त कथन नारी-सामान्य के प्रति सत्य था किन्तु नारी-मात्र की दृष्टि से असत्य भी था। कारण, निर्धन एवं असहाय स्त्रियों की स्थिति अन्य सामाजिक स्त्रियों से विलकुल भिन्न थी। उन्हें जीविकोपार्जन के लिए कार्य करना पड़ता था। इसके अतिरिक्त उस समय कुछ ऐसी भी स्त्रियाँ थीं जो सामाजिक व्यवस्था के कारण किसी परिवार विशेष की सदस्यता प्राप्त करने में असमर्थ रहती थीं। अतः उन्हें भी अपनी जीविका का उपार्जन स्वतः करना होता था। उन सभी स्त्रियों को, जो स्वतः जीविकोपार्जन करती थीं, प्रमुखरूप से तीन भागों में विभाजित किया जाता था—परिचारिका, गणिका एवं वेश्या।

परिचारिका

जब मानव-समाज के प्राचीन इतिहास पर दृष्टिपात करते हैं तो ज्ञात होता है कि विश्व के अधिकांश भागों में दास-प्रथा का प्रचलन था। दासों से न केवल काम ही लिया जाता था अपितु उन्हें पशुओं की भाँति खरीदा एवं बेचा भी जाता था। इन्हीं दासों की नारियों को अपने पति

१. पिता रक्षति कौमारे भर्त्ता रक्षति यौवने।
पुत्रस्तु स्थाविरे भावे न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति॥
—बौ० स्मृ० २।२।५२

२. देखिए—विवाह, उद्ध० ८५; वैवाहिक-जीवन, उद्ध० ४५

के स्वामी की परिचर्या करनी पड़ती थी। आज की दुनियाँ में जो राष्ट्र अत्यन्त सभ्य एवं उन्नत कहलाते हैं, उनमें किसी समय दास-प्रथा की भरमार थी। आज शायद ही कोई ऐसा विश्व के इतिहास पर प्रकाश डालने वाला ग्रन्थ हो जिसमें दास-प्रथा की चर्चा एक महत्त्वपूर्ण प्रकरण के रूप में न हो।[3]

भारतवर्ष में भी दास-प्रथा का प्रचलन अत्यन्त प्राचीन काल से ही विद्यमान है। अतः आगम-कालीन परिचारिकाओं पर लिखने के पूर्व यह आवश्यक प्रतीत होता है कि वैदिक एवं उत्तर-वैदिक-काल में निहित उनकी स्थिति पर दृष्टिपात कर लिया जाए।

वैदिक-कालीन स्थिति :

वैदिक-कालीन परिचारिकाओं में दासियाँ प्रमुख थीं। दासी शब्द दास शब्द से सम्बद्ध था। ऋग्वेद से ज्ञात होता है कि दास या दस्यु आर्यों के शत्रु थे,[४] जो कि आर्यो से पराजित हो जाने के उपरान्त उनके अधीन हो गये थे।[५] इन्हीं दासों की स्त्रियों को दासी पद से कहा जाता था। उस समय दासी-वर्ग में वे सभी स्त्रियाँ आती थीं जो आर्यों से पति के पराजित या मृत हो जाने पर उनके सन्मुख विवश होकर आत्मसमर्पण कर देती थीं।[६] इन दासियों पर आर्यों

३. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ० १७२

४. ...but in many passages the word refers to human foes of the Aryans.

—Vedic Index, 1.356

५. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ० ११६

६. Aboriginal women were, no doubt, the usual slaves, for on their husbands being slain in battle they would naturally have been taken as servants.

—Vedic Index, 1.357

का पूर्ण अधिकार होता था। आर्य-लोग इन दासियों को आवश्यकता पड़ने पर उपहार या दान स्वरूप अन्य लोगों के लिए भी दे देते थे।[७]

उत्तर-वैदिक-कालीन स्थिति :

कालान्तर में दास-दासियों को रखना सामाजिक प्रथा-सी बन गई। तैत्तिरीय-संहिता एवं विभिन्न उपनिषदों में दासियों की चर्चा पर्याप्त रूप में पाई जाती है।[८] महाभारत में भी दास-दासियों के दान के अनेक उल्लेख मिलते हैं।[९] कुछ सूत्र-ग्रन्थों में दास-दासियों के प्रति उचित व्यवहार करने का भी विधान किया गया है।[१०]

उन सभी उत्तर-वैदिक-कालीन ग्रन्थों को देखने से कहा जा सकता है कि उस समय दास-दासियाँ रखने की प्रवृत्ति समाज में बढ़ती जा रही थी तथा उन्हें अन्य वस्तुओं की भाँति वैभव-प्रदर्शन की आवश्यक वस्तु माना जाने लगा था। उन्हें न केवल मूल्य लेकर या उपहारस्वरूप दिया जाता था, अपितु उनके साथ मनमाना व्यवहार भी किया जाने लगा था। इन्हीं सब कारणों से धर्मशास्त्रों के प्रणेताओं की ओर से समाज से यह अपेक्षा की जाने लगी कि समाज के लोग दास-दासियों के प्रति उचित व्यवहार करें।

आगम-कालीन स्थिति :

आगम-कालीन उन सभी स्त्रियों को परिचारिका पद से कहा गया है जो आर्थिक या सामाजिक स्थिति से विवश होकर अन्य परिवारों के सदस्यों की परिचर्या करती थीं। इस काल की परिचारिकाओं में न केवल

---

७. ····शतं दासाँ अति स्रजः।

—ऋग्वेद० ८।५६।३

८. तै० सं० २।२।६।३; ऐ० ब्रा० ३९।८; बृहदा० ४।४।२३, ६।२।७; छान्दो० ५।१३।२

९. महा० ३।१८५।३४, ३।२३३।४३, ४।१८।२१

१०. काममात्मानं भार्यां पुत्रं वोपरुन्ध्यान्न त्वेव दासकर्मकरम्।

—आ० ध० सू० २।४।९।११

दासियाँ ही एक मात्र पात्र थी अपितु दाई एवं मनोरंजन करने वाली स्त्रियों को भी इसी विभाग में रखा जाता था। कारण, दाई आदि के कार्य की पृष्ठभूमि में भी जीविकोपार्जन ही प्रमुख लक्ष्य रहता था। उक्त सभी प्रकार की स्त्रियाँ अपने स्वामी के घर में रहकर अपनी सेवाएँ स्वामी के परिवार को अर्पित करती थीं। उन्हें स्वामी की आज्ञानुसार उचित-अनुचित सभी कार्य कार्य करने पड़ते थे। अपनी सेवाओं के बदले में ऐसी स्त्रियाँ केवल जीवन यापन के लिए अन्न एवं वस्त्र ही पाती थीं। उनका जीवन परतन्त्रता की बेड़ियों से कसा रहता था। यद्यपि उस समय कुछ ऐसी भी स्त्रियाँ होती थीं, जो यत्र-तत्र मजदूरी लेकर काम करती थीं, तथापि उनकी वह स्वतन्त्रता नाममात्र की ही थी, क्योंकि व्यक्ति ऐसी स्त्रियों के साथ भी (जिन्हें कम्मकारी कहते थे) आवश्यकता होने पर पत्नी जैसा व्यवहार करता था।[११]

तत्कालीन परिचारिकाओं को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—१. शुश्रूषा करने वाली परिचारिकाएँ एवं २. मनोरंजन करने वाली परिचारिकाएँ। प्रथम प्रकार की परिचारिकाओं को दो उप-भागों में विभक्त किया जा सकता है—१. दासी एवं २—दाई।

दासी :

आगम-कालीन सम्पन्न परिवारों में दास-दासियाँ रखने की आम प्रथा थी। दासी परिवार की ऐसी सेविका थी, जिसके जीवन की सार्थकता स्वामी की आज्ञाओं के पालन में थी। आगमों में दासी की गणना भोगों में की गई है। इससे यह ज्ञात होता है कि उस समय अन्य भोग्य-वस्तुओं की भाँति दासी को भी एक प्रकार की भोग्यवस्तु माना जाता था।[१२]

---

११. देखिए—वैवाहिक-जीवन, उद्ध० ६४

१२. खेत्तं वत्थुं हिरण्णं च पसवो दासपोरुसं।
चत्तारि कामखन्धाणि तत्थ से उववज्जई ॥

—उत्तरा० ३।१७

उसके शरीर पर उसके स्वामी का पूरा अधिकार रहता था। स्वामी के द्वारा किये गये किसी भी व्यवहार या आचरण के विरुद्ध दासी को आवाज उठाने का वैधानिक अधिकार नहीं था। दासी का वध तक कर देना स्वामी के अधिकारक्षेत्र में आता था। यही कारण था कि दासियाँ वध एवं दण्ड से सदैव भयभीत रहा करती थीं।[१३] इतना ही नहीं, दासियों को अन्य वस्तुओं की भाँति खरीदा एवं बेचा भी जा सकता था।[१४] इसके अतिरिक्त आवश्यकता के अनुसार उन्हें उपहार या पारिश्रमिक के रूप में भी दिया जाता था।[१५] यद्यपि वे सम्पन्न-परिवार में रहकर अपना जीवन-यापन करती थीं किन्तु उन्हें कभी भी परिवार की अधिकारपूर्ण सदस्यता प्राप्त नहीं होती थी। कभी-कभी दासियों को पत्नी भी बना लिया जाता था किन्तु उससे उनकी स्थिति में विशेष अन्तर नहीं आता था। कारण, बौद्ध-युग में जातिवाद एवं मानवाद का बोलबाला था। जातिभेद के भय से सगी बहिन के साथ किये गये विवाह का स्मरण भी बड़े गौरव के साथ किया जाता था।[१६] अतः ऐसे समाज में पत्नी बनने के बाद भी दासी को सम्पन्न एवं कुलीन परिवार की वास्तविक सदस्यता प्राप्त नहीं होती थी। इसके अतिरिक्त दासी-पत्नी

---

१३. (क) अवकोसानं वधानं च तज्जनाय च उग्गता।

—विमा० १।५०।८३४

(ख) अय्यानं दण्डभयभीता····

— थेरी० १२।१।२३६

(ग) ····वधदण्डतज्जिता···

—अंगुत्तर० ३।२२५

१४. देखिए—उद्ध० २१

१५. (क) ····सेट्ठि गहपति—भरिया मे अरोगा ठिता ति चत्तारि सहस्सानि पादासि दासं च दासिं च····

—महाव० पृ० २९०

(ख) ····पीइदाणं दलयंति—अट्ठहिरण्णकोडीओ····जाव पेसणकारियाओ····

—नाया० १।१।२४

१६. देखिए—विवाह, उद्ध० ६३

से उत्पन्न पुत्र को 'दासी-पुत्र' शब्द से कहा जाता था जो कि उस समय अपशब्द के रूप में प्रचलित था।[१७] सारांश यह कि उस समय दासी सजीव होते हुए भी निर्जीव भोग्यवस्तु की तरह मानी जाती थी।

दासी के भेद :

दासियाँ चार प्रकार की होती थीं—१. आमायदासी, २. क्रीतदासी, ३. स्वतः दासत्व को प्राप्त दासी एवं ४. भयदासी।[१८]

आमायदासी—परिवार की दासी की कुक्षि से उत्पन्न सन्तान पर भी वैधानिकरूप से दासी के स्वामी का ही अधिकार रहता था। ऐसी सन्तानें बचपन में चेट, चेटिकाओं के रूप में परिवार की सेवा करती थीं। बड़ी होने पर पुरुष-सन्तान एवं स्त्री-सन्तान उसी परिवार के दास एवं दासी बन जाते थे। इस प्रकार की दासी को आमायदासी, घरदासी या गेहदासी कहा जाता था।[१९] यह प्रकार परिवार में परम्परा से चलता रहता था। अन्य प्रकारों की अपेक्षा यह प्रकार बौद्ध एवं जैन दोनों ही युगों में अधिक प्रचलित था।

---

१७. मा भवं गोतमो अम्बट्ठं अतिबाल्हं दासिपुत्तवादेन निम्मादेसि।

—दीघ० १।८१

१८. (क) आमायदासा पि भवन्ति हेके,
धनेन कीता पि भवन्ति दासा।
सयम्पि हेके उपयन्ति दासा,
भया पणुन्ना पि भवन्ति दासा॥

—जातक, २२।५४६।१४४५

(ख) तुलना कीजिए :—

गब्भे कीते अणए दुब्भिक्खे सावराहरुद्धे वा।

समणाण व समणीण व ण कप्पती तारिसे दिक्खा॥

—नि० गाथा ३६७६

१९. आमायदासी ति गेहदासिया कुच्छिम्हि जातदासी।

—जातकट्ठ० ६।११७

क्रीतदासी—जब व्यक्ति को दासी की आवश्यकता होती थी, तो वह धन से दासी खरीद लाता था। एक ब्राह्मणी अपने पति से कहती है कि वह पानी भरने के लिए नहीं जायगी।[२०] अतः उसका पति पानी भरने के लिए दास या दासी खरीद कर ला दे। इसके साथ ही ब्राह्मणी ने यह स्पष्ट कर दिया कि यदि दास या दासी न आई तो वह ब्राह्मण को छोड़ कर भाग जायगी।[२१] जब ब्राह्मण ने ब्राह्मणी को अपनी आर्थिक-स्थिति बताते हुए दास या दासी खरीद कर लाने में असमर्थता व्यक्त की, तो ब्राह्मणी ने राजा से दासी माँग लाने का प्रस्ताव किया।[२२]

उपर्युक्त घटना से यह स्पष्ट होता है कि बौद्ध-युग में न केवल दासियों का क्रय-विक्रय ही होता था अपितु उन्हें दान में भी दिया जाता था।

जैनागमों में भी इस प्रकार की दासियों के उल्लेख मिलते हैं। मेघकुमार की सेवा-शुश्रूषा के लिये नाना देशों से दासियाँ बुलाई गई थीं।[२३]

यहाँ यह कह देना अनुपयुक्त न होगा कि इस प्रकार की दासियों का प्रचलन प्रायः वैभव-सम्पन्न कुलों में ही था। चूँकि अधिक दासियाँ वैभव-सम्पन्नता की निशानी थी, अतः आवश्यकता होने पर राजा या अत्यन्त वैभव-सम्पन्न व्यक्ति अनेक दासियाँ खरीद लेते थे तथा जब

२०. न ते ब्राह्मण गच्छामि नदिं उदकहारिया।

—जातक, २२।५४७।१९३०

२१. सचे मे दासं दासिं वा नानयिस्ससि ब्राह्मण।
एवं ब्राह्मण जानाहि न ते वच्छामि सन्तिके॥

—वही, १९३३

२२. तं त्वं गन्त्वान याचस्सु दासं दासिञ्च ब्राह्मण।
सो ते दस्सति याचितो दासं दासिञ्च खत्तियो॥

—वही, १९३६

२३. तए णं से मेहे कुमारे····नानादेसीहिं विदेसपरिमंडियाहिं····चेडियाचक्कवाल····

—नाया० १।१।२०

उनका उपयोग नहीं रहता था, तो वे दासियाँ उपहार के रूप में दे दी जाती थीं।

स्वतः दासत्व को प्राप्त दासी—कभी-कभी स्त्रियाँ प्रतिकूल परिस्थिति की उपस्थिति में विवश होकर स्वतः दासत्व को स्वीकार कर लेती थीं।[२४] इस प्रकार की विवशताओं में अधमर्णता का प्रमुख स्थान था। जब कोई स्त्री धनिक के ऋण को नहीं चुका पाती थी, तो उसे धनिक की दासी बनना पड़ता था। पिण्डनिर्युक्ति में दो पली तेल के कारण एक विधवा-स्त्री को विवश होकर दासी बनने की घटना का उल्लेख मिलता है। घटना इस प्रकार थी—कोशल-देश के एक गाँव में एक विधवा-स्त्री रहती थी। वह दैनिक मजदूरी कर अपनी जीविका कमाती थी। उसका एक भाई था, जो दीक्षित हो गया था। जब वह साधु के रूप में उस गाँव में आया तो उसकी विधवा बहिन ने एक वणिक् से दो पली तेल ऋण के रूप में लेकर अपने भाई के आहारादि की व्यवस्था की। उस दिन वह स्त्री भाई से धर्मोपदेश ही सुनती रही। दूसरे दिन उसका भाई विहार कर गया, अतः दिनभर दुःखित रही। तीसरे दिन घर की आन्तरिक व्यवस्था में लगी रही। फलतः इन तीन दिनों में वणिक् का दो पली तेल का ऋण बढ़कर एक घट हो गया। चौथे दिन वणिक् ने उस विधवा से कहा कि एक घड़ा तेल दो या फिर मेरी दासता स्वीकार करो। विधवा को विवश होकर उस वणिक् की दासी बनना पड़ा। कुछ दिन बाद पुनः उस विधवा दासी का भाई उस गाँव में आया और अपनी बहिन से मिला। जब साधु को अपनी बहिन की दासता का इतिहास मालूम हुआ, तो वणिक् को धर्मोपदेश देकर उससे बहिन को प्रव्रजित होने की अनुमति दिलवा दी।[२५]

---

२४. Slavery In Ancient India, p. 66.

२५. सुय अभिगमनाय विही बहि एग जीवइ ससा ते।
पविसण पाग निवारण उच्छिदण तेल्ल जइ दाणं॥
अपरिमिय नेहवुड्ढी दासत्तं सो य आगओ पच्छा।
दासत्तकहण मा रुय अचिरा मोएमि एत्ताहे॥

—पि० नि० ३१७-३१८

थेरीगाथा के अनुसार एक धनिक ने अपने ऋणी की कन्या को ऋण के बदले में ले लिया था।[२६] इस प्रकार ऋण के बदले में ली गई कन्या या स्त्री के ऊपर धनिक-वर्ग का पूरा अधिकार हो जाता था। यह धनिक-वर्ग की इच्छा पर निर्भर था कि वह उस कन्या या स्त्री को दासी के रूप में रखे या पत्नी, पुत्रवधू आदि अन्य किसी रूप में। उसकी इच्छा की पूर्ति में विघ्न उपस्थित करने का किसी को अधिकार नहीं रहता था।

भयदासी—युद्ध में विजयी-पक्ष अपर-पक्ष की बहुत सी स्त्रियों को भी ले आता था। उनमें से सुन्दर स्त्रियों को पत्नी बना लिया जाता था। ऐसी पत्नियाँ ध्वजाहृता कहलाती थीं।[२७] अवशिष्ट स्त्रियों को दासी बनकर जीवन-यापन करना पड़ता था। वे स्वेच्छा से नहीं, अपितु भय से दासता स्वीकार करती थीं। अतः उन्हें भयदासी कहा जाता था। इस प्रकार की दासी को करमरानीता अर्थात् युद्ध में बन्दी बनाकर लाई गई दासी भी कहा जाता था।[२८]

उक्त चारों प्रकार के भेदों का आधार वे बाह्य परिस्थितियाँ थीं जिनके कारण नारी को दासी बनना पड़ता था। इन भेदों के अतिरिक्त दासी के कुछ अन्य भेद भी आगमों में उपलब्ध होते हैं जिनसे उनकी स्थिति एवं कार्यों का बोध होता है। उन भेदों में कुलदासी, ज्ञातिदासी, कुम्भदासी, प्रेषणकारी आदि प्रमुख थीं।

कुलदासी—यह शब्द कुलस्त्री, कुलपुत्री आदि अन्य शब्दों के साथ मिलता है।[२९] अतः यह कहा जा सकता है कि इस प्रकार में वह घरदासी आती थी जो कुल के अनुरूप आचरण कर प्रतिष्ठा अर्जित कर लेती

---

२६. देखिए—पुत्री, उद्ध० ४९

२७. देखिए—वैवाहिक-जीवन, उद्ध० ६५

२८. परदेसतो पहरित्वा आनेत्वा दासब्यं उपगमितो करमरानीतो ति।

—सम० भाग १, पृ० ३५५

२९. ते कुलित्थीहि कुलधीताहि कुलकुमारीहि कुलसुण्हाहि कुलदासीहि····

—पारा० पृ० २६९

थी। फलतः उसकी स्थिति अन्य दासियों की भाँति अधिक दुःखद नहीं रहती थी। यही कारण था कि इस दासी के क्रियाकलाप कुल के अन्य सदस्यों के समान ही होते थे।

ज्ञातिदासी—ज्ञातिजनों की दासी को ज्ञातिदासी कहा जाता था। इस प्रकार की दासी के विषय में आगमों से अधिक जानकारी प्राप्त नहीं होती है किन्तु आगमेतर साहित्य के आधार पर यह कहा जा सकता है कि विवाह के अवसर पर दहेज में दी गई दासी को ज्ञाति-दासी कहते थे। कैकेयी के विवाह के अवसर पर उसके पिता ने मन्थरा दासी को दहेज में दिया था। रामायण में उसी मन्थरा को ज्ञातिदासी कहा गया है।[३०] इस प्रकार की दासी अपनी स्वामिनी के कार्य में सहायता प्रदान करती थी। इसके अतिरिक्त ज्ञातिदास-दासियों का गोपनीय कार्य के सम्पादन के लिए भी उपयोग किया जाता था। राजगृह में जीव-हिंसा पर राजकीय प्रतिबन्ध लग जाने पर मांस-लोलुप रेवती ने अपने नैहर के पुरुषों से गुप्तरूप से बछड़े का मांस मंगाया था।[३१]

कुम्भदासी—बौद्ध-आगमों में कुम्भदासी का यत्र-तत्र उल्लेख मिलता है।[३२] इस प्रकार की दासी का काम था—नदी या कुएं से पानी भर कर लाना। अन्य दासियों से इस दासी का कार्य कठिन होता था। कारण, इसे कड़ी ठंड में भी नदी आदि से पानी भरकर लाना होता था।[३३] कुम्भदासी से यह अपेक्षा की जाती थी कि वह अपने कार्य में

---

३०. ज्ञातिदासी यतो जाता कैकेय्यास्तु सहोषिता।

—रामा० २।७।१

३१. तए णं कोलघरिया पुरिसा रेवईए···कल्लाकल्लिं दुवे दुवे गोणपोयए वहेंति, वहित्ता रेवईए गाहावइणोए उवणेंति।

—उपा० ८।२३९

३२. थेरी० १२।१।२३६; थेरी० अप० २।१।२, २।३।३०

३३. उदहारी अहं सीते सदा उदकमोतहरिं।

—थेरी० १२।१।२३६

नियमित रहे । यत्र-तत्र कुम्भदासी को स्वामी के वध एवं दण्ड से भय-भीत होने का वर्णन आता है ।

प्रेषणकारिका— इस प्रकार की दासी का कार्य दूती-कर्म था, अर्थात् वह सन्देश आदि को एक स्थल से दूसरे स्थल पर ले जाती थी ।[३४] जब वह दासी सन्देश आदि लेकर दूसरी जगह जाती थी तो वहाँ दूसरे के द्वारा भेजी जाने से इसे परप्रेषिका भी कहा जाता था ।[३५]

दासी के कार्य :

परिवार के आन्तरिक कार्यों में अपनी स्वामिनी की सहायता करना दासी का कार्य था । यद्यपि दासी के पूर्वोक्त भेदों से उसके कुछ कार्यों के विषय में जानकारी प्राप्त हो जाती है तथापि घर के अन्दर दासियां क्या-क्या काम करती थीं, इसकी स्पष्ट चर्चा आगमों में प्राप्त नहीं होती है । नायाधम्मकहाओ से ज्ञात होता है कि भस्म, गोबर, कूड़ा आदि फेंकना, झाड़ना-पोंछना, पैर धुलाना, स्नान कराना आदि परिवार के निम्न कार्य माने जाते थे । धान्य को कूटना, पीसना, छालना, खाना पकाना तथा परोसना आदि परिवार के मध्यम कार्य थे । चूंकि उज्झिता एवं भोगवती पुत्रवधुओं को क्रमशः दण्ड-स्वरूप उक्त निम्न एवं मध्यम कार्यों को करने के लिए नियुक्त किया गया था, अतः यह कहा जा सकता है कि साधारणतया उन कार्यों को दासियाँ करती थीं ।[३६]

---

३४. बाहिरपेसणकारियं च ठावेइ ।

—नाया० १।७।६८

३५. विमा० १।१८।१६१

३६. तए णं से धणे आसुरत्ते जाव मिसिमिसेमाणे उज्झिइयं···छारुज्झियं च छाणुज्झियं···ठावेइ ।···एवं भोगवइया वि नवरं तस्स कुलघरस्स कंडितियं च कोट्टंतियं च···ठावेइ ।

—नाया० १।७।६८

दासी के प्रति स्वामी का व्यवहार :

दासियों के प्रति स्वामी तथा स्वामिनी प्रायः अच्छा व्यवहार करते थे। दासी यद्यपि परिवार की सदस्य नहीं होती थी तथापि उसके भरण-पोषण का उचित ध्यान रखा जाता था। दासी की उचित देखरेख करना गृहपति एवं गृहपत्नी के प्रमुख कर्त्तव्यों में से एक था।[३७] तत्कालीन समाज में दास-दासियों के प्रति उचित व्यवहार करने से गृहस्वामिनी की कीर्ति फैलती थी। यद्यपि दासी अपने स्वामी से डरती थी किन्तु उसके डर का प्रधान कारण यह आशंका थी कि कहीं उसका स्वामी रुष्ट होकर उसे मार न डाले।

मज्झिमनिकाय से ज्ञात होता है कि वैदेहिका ने अपनी काली नामक दासी के प्रति दुष्ट व्यवहार किया था। वैदेहिका के इस व्यवहार को अपवाद ही कह सकते हैं। कारण, काली ने वैदेहिका को उत्तेजित करनेवाला कार्य जान-बूझकर किया था।[८] इस उल्लेख को छोड़कर अन्य किसी स्थल पर दासी के प्रति दुर्व्यवहार किये जाने का संकेत तक नहीं मिलता है।

दासी और धर्म :

चूंकि दासी किसी की सम्पत्ति या भोग्यवस्तु के रूप में समाज में रहती थी, अतः उसे धर्माचरणपूर्वक जीवन व्यतीत करने का अधिकार नहीं रहता था। बौद्ध एवं जैन दोनों ही धर्मों के भिक्षुणी-संघ में दासी

---

३७. (क) इध, ब्राह्मण, यस्स ते होन्ति पुत्ता ति वा···दासा ति वा····अयं वुच्चति गहपतग्गि। तस्मायं गहपतग्गि सक्कत्वा····सुखं परिहातब्बो।

—अंगुत्तर० ३।१८७

(ख) यो सो भत्तु···दासा ति वा पेस्सा ति वा····तेसं कतं च कततो जानाति···· खादनीयं भोजनीयं चस्स पच्चंसेन संविभजति।

—वही, ३।३६१

३८. मज्झिम० १।१६७–१६८

को प्रवेश नहीं दिया जाता था।[३९] प्रव्रज्या के पूर्व नारी से अन्य प्रश्नों के साथ एक यह भी प्रश्न पूछा जाता था कि क्या वह स्वतंत्र है?[४०]

दासता से मुक्ति :

यद्यपि दासी को जीवनपर्यन्त स्वतन्त्र होने का अधिकार नहीं था किन्तु कभी-कभी गृहस्वामी या गृहस्वामिनी विशेष खुशी के अवसर पर उसको दासता से मुक्त कर देते थे। ऐसा अवसर तब आता था जब दासी उन्हें आशातीत हर्ष का समाचार सुनाती थी। उदाहरण-स्वरूप जब रट्ठपाल दीक्षित होकर भिक्षा के लिए परिभ्रमण करता हुआ अपने घर के सामने से निकला तो उसकी भूतपूर्व ज्ञातिदासी ने उसके बर्तन में सड़ी दाल डालते समय संयोग से उसे पहिचान लिया तथा इसकी सूचना अपनी स्वामिनी को दी। तब स्वामिनी ने उससे कहा कि "अगर तू सच कहती होगी तो तुझे दासता से मुक्त कर दिया जायगा।"[४१] इससे इतना ही ज्ञात नहीं होता कि दासियाँ भी कभी-कभी दासता से मुक्त हो जाती थीं अपितु उक्त घटना से यह भी व्यक्त होता है कि दासता से पूर्ण जीवन अत्यन्त दुःखदायी रहता था। दासियाँ स्वेच्छा से नहीं, अपितु सामाजिक व्यवस्था से विवश होकर दासता करती थीं। यही कारण है कि स्वामी या स्वामिनी अत्यन्त खुशी का समाचार देने वाली दासी को सर्वाधिक प्रिय दासत्व-मुक्ति दे देते थे।

---

३९. (क) दासे दुट्ठे (य) मूढे (य) अणत्त जुंगिए इय।
ओबद्धए य भयए सेहनिप्फेडिया इय॥
गुव्विणी बालवच्छा य पव्वावेउं न कप्पइ।

—स्था० १५५ अ

(ख) देखिए—उद्ध० १८

४०. अनुजानामि भिक्खवे, उपसम्पादेन्तिया पुच्छितुं...भुजिस्सासि ?....

चुल्ल० पृ० ३९१

४१. सचे, जे सच्चं भणसि, अदासिं तं करोमि

—मज्झिम० २।२८७

दासत्व से मुक्ति देते समय उसे पानी से नहला दिया जाता था।[४२] स्वामी द्वारा दासी को स्नान कराया जाना उसकी दासता से मुक्ति का उपलक्षण था।

दाई :

प्राचीन काल में राज-परिवारों एवं वैभव-सम्पन्न कुलों में नवजात-शिशु के संरक्षण एवं पालन के हेतु दाइयाँ नियुक्त की जाती थीं। आगम-कालीन समाज में पाँच प्रकार की दाइयाँ रखने की प्रथा अधिक प्रचलित थी—१. दूध पिलाने वाली, २. अलंकारवस्त्रादि से विभूषित करने वाली, ३. स्नान कराने वाली, ४. क्रीडा कराने वाली तथा ५. बच्चे को गोद में लेकर खिलाने वाली।[४३]

दाइयों का स्तर दासियों से कहीं उन्नत था। जब सन्तान बड़ी हो जाती थी तो दाई को माता के समान सम्मान प्रदान करती थी। दाइयों का पुत्र या पुत्री से न केवल तब तक सम्बन्ध रहता था जब तक कि पुत्र या पुत्री नादान रहते थे अपितु वे उनका उचित मार्ग-दर्शन उस समय भी करती थीं जब पुत्र या पुत्री बड़े हो जाते थे।

पुत्रियों के साथ तो दाई प्रायः रहती थी। यहाँ तक कि दाई विवाहोपरान्त पुत्री के साथ उसके पतिकुल में भी जाती थी। पतिकुल में नववधू के रूप में आने वाली कन्या को नैहर से आई हुई दाई का बड़ा सहारा रहता था। रानी पद्मावती ने अपने पुत्र को अमात्य तेतलि-पुत्र की कन्या से बदलने की इच्छा की, तो उसे 'अम्मा धाई' की पूरी सहायता मिली।[४४]

---

४२. तए णं स सेणिए····ताओ अंगपडियारियाओ····मत्थयधोयाओ करेइ··· पडिविसज्जेइ।

—नाया० १।१।२०

४३. तए णं से मेहे कुमारे पंचधाईपरिग्गहिए तं जहा—खीरधाईए मज्जणधाईए कीलावणधाईए मंडणधाईए अंकधाईए····

—वही, १।१।२०

४४. तए णं सा पउमावई देवी अम्मधाइं····एवं वयासी—गच्छह णं तुमं अम्मो! तेयलिपुत्तं रहस्सिययं चेव सद्दावेहि····

—वही, १।१४।१०२

मनोरंजन करने वाली परिचारिकाएँ :

आगम-कालीन समाज में शुश्रूषा करने वाली परिचारिकाओं के अतिरिक्त कुछ ऐसी भीं परिचारिकाएँ थीं जिनका कार्य अपने स्वामी का मनोरंजन करना होता था। गार्हस्थ्य-जीवन में सिद्धार्थ गौतम एवं यश कुलपुत्र के मनोरंजनार्थ इस प्रकार की अनेक परिचारिकाएँ नियुक्त थीं।[४५] वे वाद्यों द्वारा अपने स्वामी का मनोरंजन किया करती थीं। इन वाद्यों में वीणा, मृदंग आदि प्रमुख थे।[४६]

सामान्यतया ये परिचारिकाएँ व्यक्तिविशेष के मनोरंजन के निमित्त नियुक्त होती थीं किन्तु पारिवारिक खुशी के अवसर पर ये जनसमूह के सामने भी मनोरंजक क्रिया-कलाप करती थीं।[४७]

गणिका

नारी-समाज में आजीविकोपार्जन करने वाला द्वितीय वर्ग गणिका का था। यद्यपि इस वर्ग से मिलते-जुलते वेश्यावर्ग का अस्तित्व वैदिक-काल में भीं था तथापि गणिकावर्ग बौद्ध-युग की विशिष्ट देन है। अतः तत्कालीन नारी-जीवन के प्रसंग में गणिका के विषय में विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है।

सामान्यतया यह माना जाता है कि गणिका एवं वेश्या में कोई अन्तर नहीं है। संस्कृत एवं प्राकृत के सभी कोशों में गणिका को वेश्या का ही पर्यायवाची शब्द माना गया है।[४८] जिन कोशों में

४५. सो···निप्पुरिसेहि तुरियेहि परिचारियमानो···।

—मज्झिम० २।२०१; महाव० पृ० १८

४६. महाव० पृ० १८

४७. नाया० १।१।२०

४८. (क) वारस्त्री गणिका वेश्या रूपा जीवा····

—अमर० २।६।१९

(ख) गणिका लज्जिका वेश्या····

—नाम० ३६

व्युत्पत्ति के आधार से शब्दों के अर्थ दिये गये हैं, उनमें भी गणिका का अर्थ खींचतान कर वेश्या ही किया गया है।[४९] हाँ, पालि-इंग्लिश डिक्शनरी प्रभृति कुछ कोशों में उक्त गणिका एवं वेश्या शब्दों का भिन्न-भिन्न अर्थ उपलब्ध होता है। उनमें राजकीय स्तर की सामान्य-स्त्री जिसे अनेक वैभव-सम्पन्न व्यक्ति भोगा करते थे, गणिका, तथा सामान्य-जनों के द्वारा भोगी जाने वाली स्त्री को वेश्या कहा गया है।[५०]

उक्त कोशों में प्राप्त गणिका एवं वेश्या शब्दों के भिन्न-भिन्न अर्थों पर विचार करने से स्पष्ट होता है कि बौद्ध-युग में गणिका एवं वेश्याओं के बीच पर्याप्त अन्तर विद्यमान था, किन्तु कालान्तर में परिस्थितिवश उक्त अन्तर क्षीण होता गया तथा अन्त में जाकर गणिका और वेश्या को एक माना जाने लगा।

स्वरूप, उद्भव एवं विकास :

उत्तर-वैदिक-काल के बाद महाजनपदों का युग प्रारम्भ हुआ था जिसका समय ईसा पूर्व सातवीं-आठवीं सदी था। आगमों में जिन जनपदों का उल्लेख आता है उनमें सोलह प्रमुख थे। इनमें से मल्लि एवं वज्जि नामक दो जनपदों में गणतन्त्र-राज्य स्थापित था।[५१] गणिका का उद्भव इन्हीं गणराज्यों में हुआ था।

(ग) गणिया स्त्री (गणिका) वेश्या

—पाइअ० पृ० २८६

वेस्सा स्त्री (वेश्या) पण्यांगना, गणिका।

—वही, पृ० ८२३

४९. गणिका—गण: लम्पटगणः उपपतित्वेन अस्ति अस्याः····वेश्या।

—हलायुधकोश, पृ० २६७

५०. (a) Ganika...Courtesan.

—P.E.D. p. 241.

(b) Vesi & Vesiya—a woman of low caste, prostitute.

—P.E.D. p. 650

५१. इतिहास-प्रवेश, पृ० ४४

अम्बपाली बौद्ध-युग की सर्वप्रथम गणिका थी। अतः जिस परिस्थिति में वह गणिका बनी थी, उससे गणिका के स्वरूप एवं उद्भव के विषय में पर्याप्त जानकारी प्राप्त की जा सकती है। अम्बपाली कुमारी माता-पिता से विहीन तत्कालीन वैशाली की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी थी। उसकी सुन्दरता पर आसक्त होकर अनेक राजपुत्र उसके साथ विवाह करना चाहते थे, जिसके कारण राजपुत्रों में कलह उत्पन्न हो गया। अतः यह एक गम्भीर समस्या पैदा हो गई कि राजपुत्रों के बीच व्याप्त कलह को कैसे शान्त किया जाय तथा अम्बपाली सुन्दरी किसको दी जाय। इसके लिए पंचायत बुलाई गई जिसमें उक्त समस्या का यह समाधान निकाला गया कि अम्बपाली कुमारी समस्त गण की पत्नी बनकर रहे।[५२]

अतः गणिका ऐसी स्त्री को कहते थे जो गणराज्य के सभी राजाओं की पत्नी बनकर रहती थी। उसे गणराज्य की ऐसी सम्पत्ति समझा जाता था जिसका उपभोग करने का सभी राजाओं को समान अधिकार रहता था। इसके अतिरिक्त राज्य के सम्मानित अतिथियों के मनोरंजनार्थ भी गणिका का उपयोग किया जाता था।

गणिका के रूप में अम्बपाली की नियुक्ति का अन्य राज्यों पर भी प्रभाव पड़ा। वे भी इसका अनुसरण करने लगे। उदाहरणार्थ राजगृह का नैगम किसी कार्यवश वैशाली गया और वहाँ अम्बपाली गणिका को देखकर अत्यधिक प्रभावित हुआ। राजगृह लौटने पर उसने राजा बिम्बिसार से वैशाली का समाचार कहकर यह अनुरोध किया कि अच्छा हो महाराज, हम भी गणिका रक्खें। नैगम की बात सुनकर राजा ने स्वीकृति देकर उसी को गणिका की नियुक्ति का भार सौंपा। तब नैगम ने सालवती नामक सुन्दर कुमारी को गणिका

---

५२. ....वेसालियं राजउय्याने अम्बरुक्खमूले ओपपातिका हुत्वा निब्बत्ति.... अथ नं अभिरूपं....दिस्वा सम्बहुला राजकुमारा अत्तनो परिग्गहं कातुकामा अञ्ञमञ्ञं कलहं अकंसु। तेसं कलहवूपसमत्थं तस्सा कम्मसंचोदिता वोहारिका सब्बेसं होतु ति गणिका ठाने ठापेसुं।

—परमत्थदीपिनी (थेरी० की अट्ठकथा), पृ० २०७

बनाया।[५३] कालान्तर में गणिका की नियुक्ति से वे राज्य भी आकृष्ट हुए जहाँ राजतन्त्र था। फलतः वहाँ भी गणिकाओं की नियुक्ति की जाने लगी। किन्तु राजतन्त्र में गणिका अपने गणराज्य-कालीन मूल रूप को खोकर राजकीय वैभव का ही एक अंग बन गई।[५४] उन पर राजाओं का ही पूर्ण प्रभुत्व रहने लगा। दूसरे शब्दों में वे राजाओं या राजकीय परिवार के सदस्यों की रखनी के रूप में काम करने लगीं। परिणामस्वरूप जैन-युगीन गणिका की मौलिक स्वतन्त्रता पर कुठाराघात हो गया।

उपर्युक्त कथन से तीन बातें स्पष्ट होती हैं। प्रथम यह कि गणिकावृत्ति का उद्‌भव समस्या के समाधान के रूप में हुआ था, यद्यपि कालान्तर में वही गणिकावृत्ति विकसित होकर राजकीय वैभव का एक अनिवार्य अंग बन गई थी, द्वितीय यह कि गणिका का जो स्वरूप गणिकावृत्ति के उद्‌भव के समय था, वह कालान्तर में नहीं रहा अर्थात् प्रारम्भ में वह समस्त गणराजाओं की सम्पत्ति होने से स्वतन्त्र व्यक्तित्व रखती थी किन्तु कालान्तर में वही व्यक्तित्वहीन हो गई तथा तृतीय यह कि वे सुन्दर कन्याएँ, जो कि गणिका बनाई जाती थीं, निश्चित-रूप से माता-पिता या अन्य पारिवारिक पुरुषों की संरक्षकता से विहीन हुआ करती थीं। अम्बपाली ऐसी ही माता-पिता या संरक्षक वर्ग से हीन सुन्दर कन्या थी। इसका कारण यह था कि कोई भी कुलीन व्यक्ति अपनी कन्या को सुन्दरता के कारण गणिका बनाने को तैयार नहीं होता था। जब किसी

५३. अथ खो राजगहको नेगमो वेसालिं अगमासि केनचिदेव करणीयेन। अद्दसा खो····अम्बपालिं च गणिकं अभिरूपं····। अथ खो नेगमो····बिम्बिसारं एतदवोच····साधु, देव, मयं पि गणिकं वुट्ठापेय्यामा ति। तेन हि भणे तादिसिं कुमारिं जानाथ यं तुम्हे गणिकं वुट्ठापेय्याथ····नेगमो सालवतिं कुमारिं गणिकं वुट्ठापेसि।

—महाव० पृ० २८६

५४. से णं तत्थ····अणङ्गसेणापामोक्खाणं····अणेगाणं गणियासहस्सोणं आहेवच्चं जाव विहरइ।

—अन्त० १।१।७

सुन्दर कन्या के साथ अनेक व्यक्ति एक साथ विवाह करने का प्रस्ताव कन्या के माता-पिता के पास भेजते थे तो वे बड़े ही दुःख का अनुभव करते थे। यदि माता-पिता कुछ करने में अपने को असमर्थ पाते थे तो कन्या की रुचि प्रव्रज्या की ओर मोड़ देते थे,[५५] किन्तु सामर्थ्य होने पर वे उन प्रस्तावों को कई बार अपमानजनक शब्दों से अस्वीकार कर देते थे।[५६]

गुण :

आगमों में गणिका के गुणों के विषय में पर्याप्त चर्चा उपलब्ध होती है। सुन्दरता गणिका का मूल गुण था क्योंकि सुन्दर कुमारियों को ही गणिका बनाया जाता था। अम्बपाली तथा सालवती कन्याओं को गणिका बनाने का प्रमुख कारण उनकी सुन्दरता थी।[५७] गणिकापद पर प्रतिष्ठित कुमारी से यह आशा की जाती थी कि वह प्रसाधित होकर नाना प्रकार से गणराजाओं का मनोरंजन करे। अतः गणिका को नृत्य, गीत एवं वाद्य में दक्षता प्राप्त करना आवश्यक होता था।[५८]

---

५५. अथ तस्सा वयप्पत्तकाले सकल जम्बुद्दीपे राजानो च सेट्ठिनो च सेट्ठिस्स सन्तिकं दूतं पहिणिंसु "धीतरं अम्हाकं देतू" ति। ततो सेट्ठि चिन्तेसि "अहं सब्बेसं मनं गहेतुं न सक्खिस्सामी ति उपायं पनेकं करिस्सामी" ति धीतरं पक्कोसापेत्वा "पब्बजितुं अम्म सक्खिस्ससी" ति आह।

—परमत्थदीपिनी (थेरी० की अट्ठकथा), पृ० १९०

५६. तए णं से कुंभए तेसिं दूयाणं एयमट्ठं सोच्चा आसुरुत्ते जाव तिवलियं भिउडिं एवं वयासी—न देमि णं अहं तुब्भं मल्लिं तिकट्टु ते छप्पि दूए असक्कारिय....अवदारेणं निच्छुभावेइ।

—नाया० १।८।८०

५७. (क) सालवती नाम कुमारी अभिरूपा होति....नेगमो सालवतिं कुमारिं गणिकं वुट्ठापेसि।

—महाव० पृ० २८६

(ख) देखिए—उद्ध० ५२

५८. अथ खो सालवती गणिका नचिरस्सेव पदक्खा अहोसि नच्चे च गीते च वादिते च....

—महाव० पृ० २८६

कालान्तर में गणिका के गुणों का विकास हुआ। जैनागमों में गणिका के गुणों की लम्बी सूची मिलती है जिसके अनुसार गणिका के लिए ६४ कलाओं में पारंगत, तथा ६४ गणिका-गुणों, कामशास्त्र में वर्णित विलास करने के २९ गुणों एवं २१ रति-गुणों से युक्त होना आवश्यक था। इसके अतिरिक्त उसके लिए ३२ प्रकार के कुशलोपचार एवं १८ देशों की भाषाओं का ज्ञान होना आवश्यक था।[५९] ये सभी गुण बौद्ध-युगीन गणिका-गुणों से अतिरिक्त थे।

सारांश यह कि बौद्ध-युग में सुन्दरता के अतिरिक्त नृत्य, गीत एवं वाद्य में दक्षता होना ही गणिका के लिए पर्याप्त था किन्तु ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, त्यों-त्यों उसमें अधिकाधिक गुणों की अपेक्षा की जाने लगी :

आय :

गणिकाओं की आय का प्रमुख साधन उनका शुल्क था। वे अपने पास आने वाले व्यक्ति से निर्धारित शुल्क लिया करती थीं। उदाहरण-स्वरूप अम्बपाली गणिका का प्रतिरात्रि ५० कार्षापण शुल्क था।[६०] धीरे-धीरे गणिकाओं के शुल्क में वृद्धि हुई। अम्बपाली के बाद गणिका बनने वाली सालवती का शुल्क १०० कार्षापण प्रतिरात्रि हो गया।[६१] कालान्तर में यह शुल्क बढ़कर १००० तक पहुँच गया। जैनागमों में प्राप्त प्रमुख गणिकाओं के अन्य विशेषणों के साथ एक विशेषण 'सहस्सलंभा'

---

५९. ....चउसट्ठिकलापंडिया चउसट्ठिगणियागुणोववेया अउणत्तीसविसेसे रममाणी एक्कवीसरइगुणप्पहाणा बत्तीसपुरिसोवयारकुसला....अट्ठारसदेसीभासाविसारया....

नाया० १।३।५१; विवाग० १।२।३४

६०. अम्बपाली च गणिका....अभिसटा अत्थिकानं २ मनुस्सानं पञ्ञासाय च रत्तिं गच्छति।

—महाव० पृ० २८६

६१. अथ खो सालवती गणिका....पटिसतेन च रत्तिं गच्छति।

—वही, पृ० २८६-२८७

अर्थात् 'हजार पानेवाली' भी मिलता है।[६२] इसी प्रकार बौद्ध-आगमों की अट्ठकथाओं में जहाँ-कहीं भी गणिकाओं का उल्लेख आता है, वहाँ उनके साथ हजार कार्षापण प्रतिरात्रि शुल्क की भी चर्चा उपलब्ध होती है।[६३] सारांश यह कि गुणों की भाँति गणिकाओं का शुल्क भी क्रमशः बढ़ता गया तथा ईसा की ४-५ वीं सदी तक वह हजार कार्षापण प्रति रात्रि हो गया था।

यद्यपि गणिकाओं का पूर्वोक्त शुल्क राजकीय स्तर पर निर्धारित हुआ करता था तथापि गणिकाएँ उससे कहीं अधिक ही प्राप्त करती थीं। अतः पूर्वोक्त शुल्क से गणिकाओं की न्यूनतम आय के ही विषय में अनुमान किया जा सकता है।

वस्तुतः राजा, अमात्य एवं वैभवसम्पन्न व्यक्ति गणिका को अपनी पत्नी जैसा सम्मान देते थे। अतः उन पुरुषों से गणिका को मनचाही धनराशि प्राप्त हो जाती थी वाराणसी की भूतपूर्व गणिका अड्ढकासी भिक्षुणी बन जाने के बाद अपने विषय में कहती है कि जितनी समस्त काशी जनपद की आय थी, उतनी ही मेरी भी थी।[६४] देवदत्ता गणिका ने अपनी एक ही दिन की सेवा के बदले में सार्थवाहपुत्रों से जीविका के योग्य प्रभूत धनराशि प्राप्त की थी।[६५]

यहाँ यह स्पष्ट कर देना अप्रासंगिक न होगा कि यद्यपि गणिका का शुल्क प्रतिरात्रि के हिसाब से अवश्य निर्धारित रहता था तथापि यह जरूरी नहीं था कि गणिका का उपयोग रात्रि में ही किया जाय। दिन

---

६२. जाव ऊसियज्झया सहस्सलंभा····

—नाया० १।३।५१; विवाग० १।२।३४

६३. सिरिमा नाम गणिका अत्थि देवसिकं सहस्सं गण्हाति····

—परमत्थदीपिनी (विमा० की अट्ठकथा), पृ० ६७

६४. याव कासिजनपदो सुङ्को मे तत्थको बहु।

—थेरी० २।४।२५

६५. देवदत्ताए गणियाए विउलं जीवियारिहं पीइदाणं दलयंति···

—नाया० १।३।५३

में भी गणिका के साथ कामभोग करने के दृष्टान्त उपलब्ध होते हैं।[६६] इसका प्रमुख कारण यह था कि गणिका के साथ सम्पर्क स्थापित करना घृणात्मक नहीं माना जाता था। अतः उस समय गणिका से चोरी-छिपे सम्बन्ध स्थापित करने की आवश्यकता हो प्रतीत नहीं होती थी। यह दूसरी बात है कि गणिका दिन की अपेक्षा रात में ही अधिक उपयोग में लाई जाती थी।

वैभव :

गणिका सदैव वैभव-सम्पन्न रहती थी। आगमों में ऐसी एक भी गणिका का उल्लेख नहीं मिलता जो आर्थिक-दृष्टि से दुःखी रही हो। गणिका के पास रहने के लिए मकान तथा विहार के लिए उद्यान आदि अचल सम्पत्ति रहती थी।[६७] इन पर गणिका का पूरा अधिकार होता था। वह अपने घर में किसी भी व्यक्ति को आश्रय दे सकती थी। इतना ही नहीं अपितु वे अपने उद्यानादि को दान करने में भी स्वतन्त्र थीं।[६८]

बौद्ध-युग में गणिका घर से बाहर, विशेषकर उत्तम एवं प्रतिष्ठानुरूप कार्यों में भाग लेने के लिए प्रायः रथ के द्वारा जाती थी।[६९] यद्यपि गणिका के रथों को उत्तम यान की संज्ञा दी जाती थी तथापि प्राप्त उल्लेखों से यह ज्ञात नहीं होता कि इस प्रकार के उत्तम यान का क्या रूप था तथा उसमें किस प्रकार की विशेषता थी। जैनागमों के काल तक गणिकाएँ यत्र-तत्र आने-जाने के लिए कर्णीरथ का प्रयोग करने

---

६६. नाया० १।३।५१

६७. अस्सोसि खो अम्बपाली गणिका—"भगवा वेसालियं विहरति मय्हं अम्बवने····

—दीघ० २।७६

६८. इमाहं, भन्ते, आरामं बुद्धप्पमुखस्स भिक्खुसङ्घस्स दम्मी ति।

—वही, २।७८

६९. अथ खो अम्बपाली गणिका भद्देहि भद्देहि यानेहि वेसालिया निय्यासि····

—वही, २।७६

लगी थीं।[७०] यहाँ यह उल्लेखनीय है कि यद्यपि इस यान को रथ शब्द से अवश्य कहा जाता था किन्तु वस्तुतः यह रथ नहीं होता था। इसे मनुष्य अपने कन्धे पर रखकर ले जाते थे। यह वस्त्र से आच्छादित रहता था तथा इसका उपयोग प्रमुख राजकीय स्त्रियों को भेजने में होता था अर्थात् इस पर राजा की रानी या विशिष्ट स्त्री ही सवार होती थी। आजकल की भाषा में इसे पालकी या उससे मिलता-जुलता यान-विशेष कह सकते हैं।[७१] गणिका के कर्णीरथ की यह विशेषता होती थी कि उसपर ध्वजा फहराया करती थी।[७२] हो सकता है कि वह ध्वजा राजकीय नारियों के कर्णीरथों से गणिका के कर्णीरथ को विभक्त करने के लिए प्रयुक्त होती रही हो।

इसके अतिरिक्त गणिका के निवास-स्थान पर भी वैभव-सूचक अनेक क्रियाकलाप देखे जाते थे। गणिका के घर अनेक दास-दासीवर्ग रहते थे।[७३] उसके घर के मुख्यद्वार पर सदैव द्वारपाल नियुक्त रहता था।[७४] प्रसाधन में गणिका साधारण स्त्रियों से आगे रहती थी।[७५]

---

७०. ऊसियज्झया····कण्णीरहप्पयाया···

—नाया० १।३।५१; विवाग० १।२।३४

७१. (क) कर्णी चासौ रथश्चेति शब्दमात्रेण रथो, न वस्तुतः···पुरुषस्कन्धनीयमानरथः; ···· स्त्रीरत्नवहनार्थमुपरिवस्त्राच्छादितमनुष्यवाह्ययानविशेषः पालकी इति भाषा···

—हलायुधकोश, पृ० २०७

(ख) कर्णीरथस्थां रघुवीरपत्नीं।

—रघु० १४।१३

७२. देखिए—उद्ध० ७०

७३. (क) सालवती गणिका दासि····

—महाव० पृ० २८७

(ख) जातकट्ठ० ३।५६।४३५

७४. सालवती गणिका दोवारिकं आणापेसि····

—महाव० पृ० २८७

७५. थेरी० १३।१

जैन-युग में राजा की ओर से गणिका को छत्र-चामर भी दिये जाने लगे थे।[७६] ये छत्र-चामर गणिका की वैभव-सम्पन्नता के सर्वश्रेष्ठ प्रमाण होते थे। कारण, तत्कालीन समाज में राजा से छत्र-चामर प्राप्त होना अत्यधिक वैभव-सम्पन्नता एवं प्रतिष्ठा का चिह्न माना जाता था।

गणिका एवं समाज :

आगम-युगीन गणिका न केवल राजकीय व्यक्तियों द्वारा ही सम्मानित होती थी अपितु समाज में भी उसे पूर्ण सम्मान प्राप्त होता था। गणिका के सम्बन्ध से व्यक्ति की सामाजिक प्रतिष्ठा बढ़ती थी। अतः गणिका के साथ एक ही रथ पर बैठकर नगर के मुख्यद्वार से गुजरने में व्यक्ति अपने को गौरवान्वित अनुभव करता था। जब जिनदत्त एवं सागरदत्त नामक सार्थवाह-पुत्रों को देवदत्ता गणिका के साथ क्रीड़ाकर विहार करने की इच्छा हुई, तो वे उस गणिका के साथ एक ही रथ में बैठकर चम्पानगरी के प्रधान मार्ग से सुभूमिभाग उद्यान में गये थे।[७७]

इसके अतिरिक्त गणिका का समाज के प्रतिष्ठित परिवारों से भी घनिष्ठ सम्बन्ध रहता था। गणिका उच्च-कुलों में न केवल आया-जाया ही करती थी, अपितु वह परिवार के सदस्यों के स्नेह एवं श्रद्धा की पात्र भी होती थी। अभयमाता (पद्मावती) गणिका का एक सेठ के परिवार से सम्बन्ध था। सेठ की पुत्री (अभया) गणिका को अत्यधिक चाहती थी। अतः जब अभयमाता ने प्रव्रज्या ग्रहण की, तो अभया उक्त गणिका के बिना घर में नहीं रह सकी और अन्ततोगत्वा अभया को भी घर छोड़कर प्रव्रज्या ग्रहण करने के लिए विवश होना पड़ा।[७८]

---

७६. विदिन्नछत्तचामरबालवीयणिया····

—नाया० १।३।५१; विवाग० १।२।३४

७७. तए णं ते सत्थवाहदारगा देवदत्ताए गणियाए सद्धिं जाणं दुरूहंति, २ चंपाए नयरीए मज्झंमज्झेणं···सुभूमिभागे उज्जाणे उवागच्छन्ति···

—नाया० १।३।५१

७८. ····अभयमातु सहायिका हुत्वा ताय पब्बजिताय सिनेहेन सयं पि पब्बजिता····

—परमत्थदीपिनी (थेरी० की अट्ठकथा), पृ० ४१

गणिका की सन्तान को भी समाज घृणा की दृष्टि से नहीं देखता था। एक भूतपूर्व गणिका की पुत्री को अपनी पुत्रवधू बनाने के हेतु आजीवक श्रावकों ने बहुत प्रयत्न किया था, तब कहीं गणिका ने अपनी पुत्री उन्हें दी थी।[७९] इस प्रसंग में यह कह देना उचित होगा कि तत्कालीन समाज में कुल-सन्तान को सर्वाधिक महत्त्व दिया जाता था। अतः गणिका की सन्तान का स्तर कुल-सन्तान की अपेक्षा निम्न होता था। यही कारण था कि गणिका की सन्तान का वैवाहिक सम्बन्ध उच्च-कुलों में नहीं होता था।

सामान्यतया गणिका सन्तान-प्राप्ति के लिए लालायित नहीं रहती थी। गणिका अपने यश के सहारे ही अपनी जीविका एवं प्रतिष्ठा कमाती थी। अतः उसकी यह हार्दिक इच्छा रहती थी कि उसके यश का विनाश न हो। सन्तानवती या गर्भिणी हो जाने से स्वाभाविकरूप से गणिका के यश का ह्रास हो जाता था। कारण, कामलोलुपी पुरुष ऐसी ही स्त्री को अधिक पसन्द करता था जो न तो सन्तानवती हो और न ही गर्भिणी। इसीलिए गर्भिणी सालवती गणिका ने अपने गर्भ को छिपाने के लिए लोगों से मिलना-जुलना तक बन्द कर दिया था,[८०] तथा जब उसे पुत्रप्राप्ति हुई, तो सालवती ने उस पुत्र को कूड़े के ढेर में फिकवा दिया था।[८१] तात्पर्य यह कि वैभव तथा प्रतिष्ठा के

---

७९. पारा० पृ० १९६

८०. इत्थी खो गब्भिनी पुरिसानं अमनापा सचे मं कोचि जानिस्सति सालवती गणिका गब्भिनी ति सब्बो मे सक्कारो परिहायिस्सति। यन्नूनाहं गिलानं पटिवेदेय्यं।

—महाव० पृ० २८७

तुलना कीजिए :—
कोमारी सेट्ठा भरियानं

—संयुत्त० १।८

८१. "हन्द, जे, इमं दारकं कत्तरसुप्पे पक्खिपित्वा नीहरित्वा सङ्कारकूटे छड्डेही ति।

—महाव० पृ० २८७

मोहजाल में फँसकर तत्कालीन गणिका कभी-कभी मातृत्व-पद की प्राप्ति जैसे कार्य को भी ठुकरा देती थी।

प्रभुता एवं स्वाधीनता :

गणराज्यों के काल में गणिका की प्रभुता दर्शनीय होती थी। उस समय सभी गण-राजाओं की समान-पत्नी होने के नाते गणिका को किसी एक राजा के रुष्ट हो जाने पर किंचित् भी चिन्ता नहीं होती थी। कारण, ऐसी अवस्था में उसे अन्य गणराजाओं की सहायता की आशा रहती थी। साथ ही, यदि गणिका किसी अपराधी व्यक्ति पर भी आसक्त हो जाती थी तो उसे पाने के लिए वह पूरा प्रयत्न करती थी तथा उसमें गणिका सफलता भी प्राप्त कर लेती थी। सामा गणिका ने मृत्यु-दंड के लिए जाते हुए चोर पर आसक्त होकर उसे प्राप्त करने में सफलता पाई थी।[८२] सुलसा नामक गणिका ने भी मृत्यु-दंड के लिए जाते हुए चोर पर आसक्त होकर उसे छुड़वा लिया था।[८३] अनिच्छुक होने पर कोई भी राजा या सेठ गणिका को कामभोग के लिए विवश नहीं कर सकता था।

धार्मिक-प्रवृत्ति :

धार्मिक-कार्यों में भी गणिकाएँ अपना पूर्ण उत्साह प्रदर्शित करती थीं। एक बार बुद्ध वैशाली के आम्रवन में ठहरे थे। जब अम्बपाली गणिका ने उक्त समाचार सुना तो तुरन्त उत्तम यान पर बैठकर बुद्ध के पास गई। बुद्ध के उपदेशों से प्रभावित अम्बपाली ने संघसहित उनको दूसरे दिन के भोजन का निमन्त्रण दिया जिसे बुद्ध ने स्वीकार कर लिया। बुद्ध की स्वीकृति से गौरवान्वित होकर वापस लौटते समय उसने बुद्ध

---

८२. सा निय्यमानं (चोरं) दिस्वा व पटिबद्धचित्ता नगरगुत्तिकस्स सहस्सं पेसेसि…सो चोरं पटिच्छन्नयानके निसीदापेत्वा सामाय पहिणित्वा…

—जातकट्ठ० ३।५९–६०

८३. वही, ३।४३५

के दर्शन के लिए जाते हुए लिच्छविकुमारों के रथों से अपना रथ टकरा दिया। जब लिच्छविकुमारों ने अम्बपाली से इसका कारण पूछा तो उस गणिका ने बड़ी शान से भगवान् को निमन्त्रित करने की बात कही। लिच्छवि-कुमारों ने तरह-तरह के प्रलोभन देकर बुद्ध के निमन्त्रण को लेने का प्रयास किया, किन्तु अम्बपाली ने उन सभी प्रलोभनों को दृढ़ता से ठुकरा कर बुद्ध को निमन्त्रित करने का सौभाग्य सुरक्षित रक्खा।[८४]

इसके अतिरिक्त गणिकाओं ने बुद्ध के द्वारा संस्थापित भिक्षुणी-संघ में प्रवेश लेने में भी अभूतपूर्व उत्साह प्रदर्शित किया। बौद्ध-युग की अधिकांश गणिकाओं ने भिक्षुणी-संघ में प्रवेश किया था। बुद्ध ने भी गणिका के लिए संघ में प्रविष्ट करने के हेतु, विशेष सुविधाएँ भी दी थीं।[८५]

तात्पर्य यह है कि गणराज्यों के समय गणिकाओं को समाज एवं धर्म के कार्य में भाग लेते पाया जाता था, साथ ही समाज में वे स्वाभिमान एवं प्रतिष्ठापूर्ण जीवन-यापन करती थीं।

जैन-युग तक आते-आते गणिका की पूर्वोक्त प्रतिष्ठा एवं स्वाभिमान-पूर्ण स्थिति की क्षति हो गई। अब वह राजा या अमात्य की इच्छा के विरुद्ध अपने प्रिय व्यक्तियों से सम्बन्ध स्थापित नहीं कर पाती थी। राजा आदि को यह अधिकार रहता था कि वे कभी भी आवश्यकता पड़ने पर गणिका को पत्नी की मान्यता दे सकते थे।[८६] फलतः

---

८४. दीघ० २।७६–७८

८५. अस्सोसि खो अड्ढकासी गणिका—धुत्ता किर मग्गे परियुट्ठिता ति। भगवतो सन्तिकं दूतं पाहेसि····कथं नु खो मया पटिपज्जितब्बं ति? अथ खो भगवा···अनुजानामि, भिक्खवे, दूतेन पि उपसम्पादेतुं ति।

—चुल्ल० पृ० ३९७–३९८

८६. तए णं तस्स विजयमित्तस्स रन्नो अन्नया कयाइ सिरीए देवीए जोणिसूले पाउब्भूए····उज्झियदारयं कामज्झयाए गणियाए गिहाओ निच्छुभावेइ, २ कामज्झयं गणियं अब्भिन्तरियं ठावेइ।

—विवाग० १।२।५१ तथा १।४।६६

उस अवस्था में गणिका अपने इच्छित व्यक्ति से मिलने में असमर्थ रहती थी। अतः जब कभी उक्त अवस्था में गणिका का प्रेमी उससे मिलना चाहता था तो उसे चोरी-छिपे ही मिलना होता था। यदि कभी यह भेद राजा, अमात्य आदि को ज्ञात हो जाता था तो वे आसक्त पुरुष एवं गणिका को अन्तःपुर के नियम तोड़ने के अपराध में दण्डित करते थे।[८७]

इसके अतिरिक्त जैन-युग की गणिकाएँ न तो किसी सामाजिक कार्य में भाग लेती थीं और न ही अपने को धार्मिक क्रियाकलापों से ही सम्बद्ध रखती थीं। यह कहना अधिक उचित होगा कि गणराज्य की गणिका का जैन-काल में नाम मात्र का अस्तित्व रह गया था। कारण, जैन-युग में वेश्याओं के समुदाय का नेतृत्व करने वाली सबसे सुन्दरी एवं गुणवती वेश्या को ही गणिका कहा जाने लगा था।[८८]

गणिका से सम्बन्धित पूर्वोक्त समस्त विवरण से यह ज्ञात होता है कि गणिका का उद्भव बौद्ध-युग में राज्य के गौरव की वृद्धि के हेतु हुआ था। वह सारे गण की सम्पत्ति होकर भी स्वाभिमानपूर्ण जीवन-यापन करती थी। जैन-युग में यद्यपि गणिका को राज्य-वैभव का अंग माना जाता था किन्तु उस काल में न तो गणिका में स्वाभिमान की भावना रहती थी और न ही बौद्ध-युगीन स्वतन्त्रता एवं प्रभुता-सम्पन्नता। जैन-युग में वह केवल राजा या अमात्य आदि की रखैल बन गई थी। यह बात दूसरी है कि जब राजा या अमात्य के लिए उसकी आवश्यकता नहीं होती थी तब वह बौद्ध-युगीन गणिका के अनुरूप स्वाभिमान से परिपूर्ण वैभवसम्पन्न जीवन व्यतीत करने को स्वतन्त्र रहती थी।

---

८७. तए णं से सुसेणे अमच्चे महचन्देणं रन्ना अब्भणुन्नाए समाणे दारयं सगडं सुदरिसणं च गणियं एएणं विहाणेणं वज्झं आणवेइ।

—वही, १।४।९८

८८. वेश्याओं में जो सबसे सुन्दरी और गुणवती होती थी, उसे ही गणिका की आख्या मिलती थी।

—प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद, पृ० ९४

वेश्या

आगम-कालीन समाज में वेश्याओं का वर्ग भी अपनी आजीविका का उपार्जन स्वतः करता था। पूर्वोक्त परिचारिका एवं गणिका वर्गों की तुलना में वेश्यावर्ग निम्न माना जाता था तथा सामाजिक एवं धार्मिक क्षेत्रों में उसे हेय दृष्टि से देखा जाता था।

वैदिक एवं उत्तर-वैदिक-कालीन स्थिति :

वेश्या-वृत्ति का अस्तित्व वैदिक-युग में भी था। ऋग्वेद में वेश्या को साधारणी शब्द से व्यक्त किया गया है। एक स्थल पर कहा गया है कि मरुत्-गण विद्युत् से उसी प्रकार संयुक्त होते हैं जिस प्रकार साधारणी (वेश्या) से पुरुष संयुक्त रहते हैं।[८९] यहाँ यह लिख देना आवश्यक होगा कि वैदिक-काल में भी वेश्या-वृत्ति को घृणा की दृष्टि से ही देखा जाता था। यही कारण था कि गुप्त रूप से सन्तान को जन्म देने वाली स्त्रियाँ उसे (बच्चे को) मार्ग के एक ओर रख दिया करती थीं।[९०] धर्मसूत्रों में भी वेश्या की निन्दा उपलब्ध होती है। आशय यह कि विश्व के अन्य भागों की भाँति भारत में भी वेश्या-वृत्ति का प्रचलन अत्यन्त प्राचीन काल से रहा है तथा प्रारम्भ से ही उसे घृणात्मक-दृष्टि से देखा जाता रहा है।

आगम-कालीन स्थिति :

बौद्ध-आगमों में भी यत्र-तत्र गणिका के अतिरिक्त वेश्या-वर्ग के उल्लेख मिलते हैं जिनसे यह ज्ञात होता है कि उस समय यह वर्ग गणिका-वर्ग से भिन्न था तथा साधारण मनुष्यों की कामपिपासा की तृप्ति का प्रमुख साधन था। इसके अतिरिक्त उन उल्लेखों से यह भी ज्ञात होता है कि बौद्ध-युग में भी सामाजिक एवं धार्मिक व्यक्ति

---

८९. परा शुभ्रा अयासो यव्या साधारण्येव मरुतो मिमिक्षुः।

—ऋग्वेद० १।१६७।४

९०. वही, २।२९।१

वेश्याओं को घृणा की दृष्टि से देखते थे। वेश्या के स्वरूप एवं जीवन का संक्षिप्त वर्णन कर गणिका-वर्ग से उस (वेश्या) वर्ग की विभिन्नता दिखाना ही प्रस्तुत विभाग का उद्देश्य है।

स्वरूप :

बौद्ध-युग में मानव-समाज के विभाजन में जन्म की अपेक्षा कर्म को अधिक प्रमुखता दी जाती थी।[९१] अतः जो मैथुनकर्म का सेवनकर पृथक्-पृथक् कर्म करते थे ऐसे पुरुष को वैश्य (वेस्स) तथा स्त्री को वेश्या (वेसी या वेस्सी) कहा जाता था;[९२] तात्पर्य यह कि बौद्ध-युग में वेश्या उन स्त्रियों को कहा जाता था, जो वैश्य-वर्ग की भांति अपनी आजीविका का उपार्जन करती थीं। चूंकि उस समय स्त्रियों को पुरुषों के समान व्यापार आदि कार्य करना समाजद्वारा सम्मत नहीं था, अतः वेश्याएँ शरीर विक्रय कर धन कमाती थीं। फलतः शारीरिक अनुचित कृत्य या दुराचरण को करनेवाली स्त्रियों को वेश्या कहा जाता था। संस्कृत-ग्रन्थों में वेश्या शब्द को व्युत्पत्ति अन्य प्रकार से की गई है। उनमें ऐसी स्त्री को वेश्या कहा गया है जो वेशभूषा से अपनी जीविका कमाती थी।[९३]

उपर्युक्त दोनों व्युत्पत्तियों को सूक्ष्म दृष्टि से देखने से ज्ञात होता है कि वस्तुतः ये दोनों व्युत्पत्तियाँ एक ही भाव को प्रकट करती हैं,

---

९१. न जच्चा वसलो होति, न जच्चा होति ब्राह्मणो।
कम्मुना वसलो होति, कम्मुना होति ब्राह्मणो॥

—सुत्तनिपात, १।७।१३६

९२. (क) मेथुनं धम्मं समादाय विसुकम्मन्ते पयोजेन्ती ति खो, वासेट्ठ, 'वेस्सा, वेस्सा' त्वेव अक्खरं उपनिब्बत्तं'।

—दीघ० २।७४

(ख) Vesi & Vesiya (f) [the f. of Vessa].

—P.E.D. p. 650

९३. वेशमर्हति वेशेन दीव्यत्याचरति वेशेन पण्यायोगेन जीवति वा।

—हलायुधकोश, पृ० ६३८

हालांकि उन्हें भिन्न-भिन्न रूप से प्रस्तुत किया गया है। बौद्धागमों में शारीरिक सेवा कर जीविका कमानेवाली स्त्री को वेश्या कहा जाता था तथा उस सेवा के हेतु शरीर को वेशभूषा से सजाना नितान्त आवश्यक था। अतः बौद्ध-युग में ऐसी स्त्री को वेश्या कहा जाता था जो चमकीली वेशभूषा से अपने शरीर के उपभोग के लिए पुरुष-वर्ग को आकृष्ट करती थी तथा आकृष्ट पुरुष से अपनी शारीरिक सेवा के बदले में जीविका के निर्वाह के लिए कुछ धन प्राप्त कर लेती थी।

गुण :

गणिकाओं से विपरीत वेश्याओं को न तो अत्यधिक सुन्दर होना आवश्यक था और न ही नृत्य, गीत, वाद्य आदि गुणों में निष्णात होना अपेक्षित था। वेश्याओं में केवल एक ही गुण पाया जाता था और वह था शरीर का वेशभूषा से उत्तेजक शृंगार करना। वेश्या के शरीर-शृंगार की चर्चा यत्र-तत्र उपलब्ध होती है। एक बार प्रव्रजित श्रेष्ठिपुत्र की माता से अनुमति प्राप्त कर वेश्या उसे रिझाने गई थी। जाते समय उस वेश्या ने अलंकारों के अतिरिक्त सुन्दर वस्त्रों से अपने शरीर को सजाया था, गले में माला पहिन ली थी तथा पैरों में लाक्षारस लगा लिया था।[९४]

वेश्याओं को शृंगार के अतिरिक्त अन्य गुणों की आवश्यकता इसलिए नहीं होती थी क्योंकि उनका कार्य केवल मनुष्य की काम-पिपासा को उभाड़ कर अपनी शारीरिक सेवाओं द्वारा उसे शान्त करना था। चूंकि उनकी सेवाओं को राजनैतिक एवं सामाजिक मान्यता प्राप्त नहीं थी, अतः वे नृत्य, गीत आदि गुणों में कुशल होने के बन्धन से भी मुक्त थीं।

आर्थिक स्थिति :

गणिका की तुलना में वेश्या की आर्थिक स्थिति कमजोर रहती

---

९४. अलङ्कता सुवसना मालधारी विभूसिता।
अलकत्तकता पादा पादुकारुय्ह वेसिका॥

—थेर० ७।१।४५९

थी। वह सदैव धनाभाव से पीड़ित होने के कारण धन की लालची होती थी। अतः वेश्या अवसर पाकर उचित-अनुचित सभी प्रकारों से धन प्राप्त करने में नहीं हिचकती थी। एक बार तीस भद्रवर्गीय मित्र अपनी-अपनी भार्याओं के साथ वनखण्ड में विनोद कर रहे थे। चूंकि उनमें एक व्यक्ति ऐसा था जिसकी भार्या नहीं थी, इसलिए उसके लिए वेश्या बुलाई गई थी। जब वे सभी मित्र सुरापान कर नशे की स्थिति में हो गये, तो वह वेश्या उस स्थिति का लाभ उठाकर उनके सामान को लेकर भाग गई।[९५]

वेश्याओं की आर्थिक कमजोरी का कारण यह था कि उनका सम्पर्क राजकीय स्तर के मनुष्यों एवं धनिक-वर्गों से नहीं रहता था, अपितु उनका सम्बन्ध निम्न-वर्ग के मनुष्यों से, जिनकी आर्थिक स्थिति अधिक सुदृढ़ नहीं होती थी, ही रहता था। चूंकि वेश्याओं के साथ संपर्क स्थापित करना प्रतिष्ठा-घातक था, अतः सामान्य मनुष्य भी वेश्या-संपर्क को अधिक महत्त्व नहीं देते थे। अतएव वेश्या की आय का साधन केवल वे ही मनुष्य रहते थे, जो सामान्य श्रेणी के होते हुए भी भोग-विलास से युक्त जीवन व्यतीत करना चाहते थे। ऐसे लोगों में धूर्त लोग प्रमुख थे।

वेश्याएँ धनाभाव के कारण वैभव-सम्पन्नता से भी विहीन होती थीं। बौद्ध-आगमों में ऐसे उल्लेख नहीं मिलते हैं जिनके आधार पर यह कहा जा सके कि वेश्याओं के पास चल-अचल सम्पत्ति होती थी। उनके निवास-स्थान अवश्य होते थे किन्तु वहाँ भी उनकी वैभव-संपन्नता प्रदर्शित नहीं होती थी। जिस प्रकार गणिकाएँ दास-दासियाँ एवं द्वारपाल आदि रखती थीं, उस प्रकार वेश्याएँ नहीं रखती थीं। वेश्याएँ स्वतः ही अपने घर के द्वार पर बैठकर राहगीरों को कामवासना

---

९५. तेन खो पन समयेन तिंसमत्ता भद्दवग्गिया सहायका सपजापतिका तस्मिं येव वनसण्डे परिचारेन्ति। एकस्स पजापति नाहोसि; तस्सत्थाय वेसी आनीता अहोसि। अथ खो सा वेसी तेसु पमत्तेसु परिचारेन्तेसु भण्डं आदाय पलायित्थ।
—महाव० पृ० २५

के जाल में फँसाने का प्रयत्न किया करती थीं।[९६] यत्र-तत्र जाने के लिए रथों का भी प्रयोग नहीं करती थीं तथा राजा के द्वारा सम्मानित भी नहीं होती थीं। वे परिचित-अपरिचित सभी व्यक्तियों के निमन्त्रण को स्वीकार कर उनके पास स्वतः चली जाती थीं। यह बात दूसरी है कि जहाँ जाने में वे अपने को असुरक्षित अनुभव करती थीं, वहाँ जाने के लिए जल्दी से तैयार नहीं होती थीं। ऐसे स्थानों पर वे तभी जाती थीं जब उन्हें किसी प्रामाणिक व्यक्ति द्वारा सुरक्षा का स्पष्ट आश्वासन मिल जाता था।[९७]

सामाजिक-स्थिति :

वेश्याओं को समाज में उचित स्थान प्राप्त नहीं था। उनका समाज में आना-जाना भी प्रायः बन्द था। वे स्नानादि कार्य के लिए नदी, तालाब में एक साथ ही मिलकर जाती थीं।[९८] कभी-कभी काम-भोगिनी स्त्रियाँ या भिक्षुणियाँ उन्हें अपने पास बैठाती थीं।[९९] यद्यपि स्पष्टरूप से तो यह नहीं कहा जा सकता कि इस प्रकार वेश्याओं को बैठाने का क्या उद्देश्य था तथापि अनुमान किया जा सकता है कि कामभोगिनी स्त्रियाँ कामुक वेश्याओं से कामसम्बन्धो चर्चा एवं जिज्ञासा के हेतु ही बैठाती हों। जो कुछ भी हो किन्तु इतना कहा जा सकता है कि

---

९६. विभूसेत्वा इमं कायं, सुचित्तं बाललापनं।
अट्ठासिं वेसिद्वारम्हि, लुद्दो पासमिवोड्डिय ॥

—थेरी० ५।२।७३

९७. तेन खो पन समयेन अञ्ञतरिस्सा वेसिया सन्तिकं दूतं पाहेसुं—आगच्छतु उय्याने परिचारेस्सामा ति। सा एवमाह—अहं खय्यो तुम्हे न जानामि··· बहिनगरं च गन्तब्बं। नाहं गमिस्सामी'ति।···सचे, भन्ते, अय्यो जानाति अहं गमिस्सामी ति।

—पारा० पृ० १६८–१६९

९८. देखिए—उद्ध० १०५

९९. ····वेसिं वुट्ठापेन्ति····सेय्यथापि गिहिनी कामभोगिनियो ति।

—चुल्ल० पृ० ३८७

वेश्याएँ अधिक निर्लज्ज होती थीं। वे काम-सेवा करने के लिए अपने को प्रस्तुत करने में किंचित् भी संकोच का अनुभव नहीं करती थीं। विमला अपने अनुभव सुनाती है कि वह लज्जा को छोड़कर कपड़े उतार कर नंगी तक हो जाती थी तथा मनुष्यों के पतन के लिए अनेक मायाएँ रचती थी।[१००] अतः समाज के अधिकांश व्यक्ति उनसे बचकर ही रहते थे। समाज में वेश्या-गमन त्याज्य था।[१०१] वेश्या की पुत्री भी अपनी मां का ही अनुसरण कर वेश्या बन जाती थी। विमला केवल इसीलिए वेश्या बन गई थी क्योंकि उसकी माता वेश्या थी।[१०२] इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि वेश्या की सन्तान को भी समाज में उचित स्थान नहीं दिया जाता था। फलतः उसे भी वेश्या-वृत्ति से ही जीवन-यापन करने के लिए विवश होना पड़ता था।

धार्मिक स्थिति :

वेश्याएँ धार्मिक-कृत्य से भी दूर रक्खी जाती थीं। बौद्ध-धर्म में मुख्यरूपेण ब्रह्मचर्य को महत्त्व दिया गया है। चूंकि वेश्याएं निर्लज्ज होकर कामसेवन की प्रार्थना करती थीं अतः वेश्याओं को न केवल संघ में ही प्रविष्ट नहीं किया जाता था, अपितु उनसे भिक्षुओं को बचने के लिए भी कहा जाता था। वेश्या-गोचर हो जाने से भिक्षु के पथ-च्युत हो जाने की आशंका रहती थी।[१०३] विमला नामक वेश्या महामौ-

१००. पिलन्धनं विदंसेन्ती, गुय्हं पकासिकं बहुं।
अकासिं विविधं मायं उज्जग्घन्ती बहुं जनं ॥

—थेरी० ५।२।७४

१०१. "न खलु, सम्म पुण्णमुख, वेसियो नारियो गमनियो····

—जातक, २१।५३६।२९२

१०२. वेसालियं अञ्ञतराय रूपूपजीविनिया इत्थिया धीता···विमला।

—परमत्थदीपिनी (थेरी० की अट्ठकथा), पृ० ७६

१०३. धम्मेहि समन्नागतो भिक्खु उस्सङ्कितपरिसङ्कितो होति पापभिक्खू ति···
वेसियागोचरो वा होति···

—अंगुत्तर० २।३८४

द्गल्यायन पर आसक्त होकर उनसे निर्लज्जतापूर्वक कामसेवन की प्रार्थना करने लगी। जब स्थविर ने उसे फटकार दिया तो विमला को वेश्या-वृत्ति से घृणा पैदा हो गई। वह अपने वेश्या-रूप को त्याग कर धर्म की शरण में गई, किन्तु प्रथम उसे उपासिका के रूप में ही दीक्षित किया गया। जब उसने उपासिका के रूप में रहकर धर्माचरण के प्रति अपनी पूर्ण निष्ठा प्रदर्शित की, तब कहीं उसे भिक्षुणी बनाया गया।[१०४]

वेश्याओं का सम्पर्क न केवल भिक्षु-वर्ग को ही हानिप्रद रहता था अपितु उनके सम्पर्क में आने वाली भिक्षुणियों को भी ब्रह्मचर्य-जीवन व्यतीत करना कठिन हो जाता था। कारण, वेश्याएँ भिक्षुणियों में कामसेवन के प्रति आकर्षण पैदा करने का प्रयास करती थीं। एक बार अचिरवती में भिक्षुणियाँ वेश्याओं के साथ एक ही घाट पर नग्न होकर स्नान कर रही थीं। उसी समय वेश्याओं ने भिक्षुणियों से कहा कि तुम युवतियों को ब्रह्मचर्य का पालन करने से क्या लाभ है। पहले भोगों का उपभोग करना चाहिए। जब बुड्ढी होना, तब ब्रह्मचर्य का पालन करना। ऐसा करने से इहलोक एवं परलोक दोनों का ही आनन्द प्राप्त कर सकोगी।[१०५] सारांश यह कि वेश्याएँ धार्मिक-कृत्यों से दूर रखी जाती थीं क्योंकि उनके सम्पर्क से धार्मिक-व्यक्तियों में असदाचरण फैलने की आशंका रहती थी।

जैन-युग में वेश्याओं एवं गणिकाओं का सम्मिश्रण हो गया तथा गणिका एवं वेश्या पद एक दूसरे के पर्यायवाची बन गये।

---

१०४. तथा पन थेरेन ओवादे दिन्ने सा संवेगजाता हिरोत्तप्पं पच्चुपट्ठापेत्वा सासने पटिलद्धसद्धा उपासिका हुत्वा अपरभागे भिक्खुनीसु पब्बजित्वा…

—परमत्थदीपिनी (थेरी० की अट्ठकथा), पृ० ७७

१०५. इध, भन्ते, भिक्खुनियो अचिरवतिया नदिया वेसियाहि सद्धिं नग्गा एकतित्थे नहायन्ति। ता, भन्ते, वेसियो भिक्खुनियो उप्पण्डेसुं—किं न खो नाम तुम्हाकं अय्ये, दहरानं ब्रह्मचरियं चिण्णेन, ननु नाम कामा परिभुञ्जितब्बा…

—महाव० पृ० ३०९

गणराज्य-कालीन आदर्शों का पालन करने वाली गणिका वेश्याओं का नेतृत्व करने लगी थी।[१०६] इस मिश्रण के परिणामस्वरूप वेश्याएँ भी गणिका शब्द से कही जाने लगीं। यही कारण है कि जैनागमों में वेश्या शब्द का उल्लेख नहीं मिलता है, अपितु उसकी जगह गणिका शब्द का हीं प्रयोग दृष्टिगोचर होता है किन्तु उनके आवास को वेसिया-घर कहा गया है।[१०७] आशय यह कि प्रमुख गणिका के नेतृत्व में गणिका शब्द से कही जाने वाली सभी वेश्याएँ राजकीय-वैभव का अंग बन गईं।[१०८] जैनागमों में ऐसा एक भी उल्लेख नहीं मिलता जिसके आधार पर कहा जा सके कि गणिकाएँ अपनी वृत्ति को त्याग कर धार्मिक जीवन में प्रवेश करती थीं। अतः स्पष्ट है कि जैन-युग तक अन्य गणिकाओं (वेश्याओं) के साथ प्रमुख गणिका भी धर्म-पालन के अधिकार से वञ्चित हो गई थी।

---

१०६. ···बहूणं गणियासहस्साणं जाव विहरइ।

—नाया० १।३।५१; विवाग० १।२।३४

१०७. विवाग० १।१।५०

१०८. देखिए—उद्ध० ५४

भिक्षुणी

बौद्ध एवं जैन-युगीन भिक्षुणी-वर्ग में साम्य एवं वैषम्य
वैदिक एवं उत्तर-वैदिक-कालीन स्थिति
बौद्ध-कालीन स्थिति
पाँच वर्ष तक बौद्ध-भिक्षुणी-संघ के अभाव का कारण
बुद्ध, धर्म एवं नारी
बौद्ध-भिक्षु-संघ एवं नारी
बौद्ध-भिक्षुणी-संघ का प्रारम्भ
आठ गुरुधर्म
बौद्ध-भिक्षुणी-संघ एवं नारी
बौद्ध-भिक्षुणी एवं समाज
जैन-कालीन स्थिति
जैन-भिक्षुणी-संघ की प्राचीनता
जैन-भिक्षु-संघ एवं नारी
जैन-भिक्षुणी का स्तर
जैन-भिक्षुणी-संघ एवं नारी
जैन-भिक्षुणी एवं समाज

●

: ५ :

भिक्षुणी

आगमकालीन नारी-समाज में भिक्षुणी-वर्ग का विशिष्ट स्थान था। कारण, नारी-समाज के सभी वर्ग भिक्षुणी-वर्ग से प्रकट या अप्रकट रूप से प्रभावित थे। उस समय नारी-समाज में सूत्रकालीन व्यवस्था के विरोध में जो क्रान्ति हुई थी, उसका प्रमुख कारण भिक्षुणी-वर्ग के प्रति नारी का आकर्षण एवं समादर का भाव ही था। अतः तत्कालीन नारी-जीवन का चित्रण करते समय भिक्षुणी-वर्ग को नहीं भुलाया जा सकता है।

बौद्ध एवं जैन-युगीन भिक्षुणी-वर्ग में साम्य एवं वैषम्य :

बौद्ध एवं जैन दोनों ही युगों में भिक्षुणियों का अस्तित्व था। दोनों ही युगों की नारियाँ भिक्षुणी बनकर सांसारिक दुःखों से मुक्ति पाने की इच्छा करती थीं।[1] अतः आगमकालीन नारियों का भिक्षुणी-संघ में प्रविष्ट होने का लक्ष्य एक ही था। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि बौद्ध एवं जैन दोनों ही युगों की भिक्षुणियों में साध्य की दृष्टि से साम्य था। किन्तु भिक्षुणियों के प्रति सामाजिक नारियों के दृष्टिकोण, आकर्षण, व्यवहार आदि की भिन्नता के कारण उभययुगीन भिक्षुणी-वर्गों में वैषम्य था।

---

१. (क) साज्ज अब्बूल्हसल्लाहं निच्छाता परिनिब्बुता।
बुद्धं धम्मं च सङ्घं च उपेमि सरणं मुनिं॥

—थेरी० ३।५।५३

(ख) उपेमि सरणं बुद्धं धम्मं सङ्घं च तादिनं।
समादियामि सीलानि तं मे अत्थाय हेहिति॥

—वही, १२।१।२५०

(ग) तं सेयं ममं ··· अज्जाणं अंतिए पव्वइत्तए।

—नाया० १।१४।१०५; निरया० ३।४।११६

बौद्धागमों से ज्ञात होता है कि उस समय नारी-समाज का प्रत्येक वर्ग भिक्षुणी-जीवन से आकृष्ट एवं प्रभावित था। सामाजिक एवं पारिवारिक-जीवन से उदास या भयभीत प्रत्येक नारी भिक्षुणी-संघ की शरण लेने का प्रयास करती थी।[२] फलतः उस समय भिक्षुणियों की संख्या इतनी अधिक हो गई थी कि उनको संयमित ढंग से रखने के लिए बुद्ध को एक पृथक् विधान बनाना पड़ा था।[३] किन्तु फिर भी भिक्षुणियों के कारण कभी-कभी संघ में अव्यवस्था एवं असन्तुलन का वातावरण उत्पन्न हो जाता था जिसे व्यवस्थित एवं सन्तुलित बनाने के लिए बुद्ध को नये-नये नियमों का सर्जन करना होता था।[४]

जैन-युग में भिक्षुणी-वर्ग संयमित एवं नियमित हो गया था। उस समय वे ही स्त्रियाँ भिक्षुणी बनती थीं जिन्हें ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा होती थी या पारिवारिक-जीवन में रहना कठिन हो जाता था। इस युग में भिक्षुणी-जीवन के प्रति सामान्य नारी का आकर्षण कम हो गया था। जब नारी के हृदय में ज्ञान-प्राप्ति की लालसा जाग्रत होती थी, तो वह अपने संरक्षक-वर्ग की सरलता से स्वीकृति प्राप्त कर भिक्षुणी बन जाती थी।[५] अन्य नारियाँ, जिनमें गृहपत्नी की प्रधानता थी, तभी

---

२ (क) अहं पि पब्बजिस्सामि भातुसोकेन अट्टिता।

—थेरी० १२।४।३२६

(ख) अस्सोसि खो सा इत्थी—"सामिको किर मं घातेतुकामो" ति। वरभण्डं आदाय····पब्बज्जं याचि।

—पाचि० पृ० ३०१

३. At this time the need of creating new laws was most urgent, because owing to the increase of the number of inmates, there was greater probability of lapses ...

—Early Buddhist Jurisprudence, p. 163.

४. चुल्ल० पृ० ३८२—३८६ तथा आगे

५. (क) "इच्छामि णं, देवाणुप्पिया····पव्वइत्तए। अहासुहं····तए णं सा पउमावई अज्जा····एक्कारस अङ्गाइं अहिज्जइ।

—अंत० ५।१।८५, ८६

(ख) भगवतीसूत्र, १२।२

भिक्षुणी बनती थीं जब उन्हें पारिवारिक-जीवन में कोई दुःख होता था।[६] इस प्रकार की नारियाँ प्रारम्भ में किसी भिक्षुणी से अपने दुःख के निवारण का उपाय ही पूछती थीं किन्तु जब भिक्षुणी दुःख का उपाय न बताकर भिक्षुणी-जीवन का आदर्श प्रस्तुत करती थी तो उन्हें विवश होकर भिक्षुणी बनना पड़ता था।[७]

इस प्रकार बौद्ध एवं जैन-युगीन भिक्षुणी-जीवन में साम्य होते हुए भी कुछ-कुछ वैषम्य था। अतः यह आवश्यक है कि ऐतिहासिक-दृष्टि से भिक्षुणी-जीवन का चित्रण करने के लिए पहले वैदिक-कालीन स्थिति का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत कर बौद्ध-युगीन भिक्षुणी-वर्ग का वर्णन किया जाय। उसके बाद जैन-युगीन भिक्षुणी-वर्ग के विषय में कहा जाय।

मुख्य विषय पर लिखने के पूर्व यह स्पष्ट कर देना अनुचित न होगा कि सामाजिक-दृष्टि से भिक्षुणी-वर्ग का वर्णन करना ही प्रस्तुत अध्याय का अभीष्ट विषय है। कारण, संघ की दृष्टि से भिक्षुणी-जीवन का व्यापक चित्रण अन्य ग्रन्थों में किया जा चुका है।[८] अतः पुनः संघ की दृष्टि से ही भिक्षुणी-जीवन के विषय में कथन करना पुनरुक्ति मात्र होगी।

---

६. (क) ....अहं तेयलिपुत्तस्स....अणिट्ठा.... । तं सेयं खलु ममं...पव्वइत्तए।

—नाया० १।१४।१०५

(ख) ...नो चेव णं अहं दारगं वा दारियं वा पयायामि तं सेयं...पव्वइत्तए।

—निरया० ३।४।११६

७. (क) तं अत्थियाइं भे अज्जाओ केइ कहिंचि चुण्णजोए वा....जेणाहं... पुणरवि इट्ठा ५ भवेज्जामि ?

—नाया० १।१४।१०४

(ख) अम्हे णं समणीओ....नो खलु कप्पइ अम्हं एयप्पगारं....तए णं सा.... वयासी—इच्छामि णं....धम्मं निसामित्तए।

—नाया० १।१४।१०४, १।१६।११८

८. (क) Women Under Primitive Buddhism, pp. 95–379

(ख) History of Jaina Monachism, pp. 465–511.

वैदिक एवं उत्तर-वैदिक-कालीन स्थिति :

वैदिक-साहित्य में भिक्षुणी-संघ या उससे मिलती-जुलती किसी संस्था विशेष का उल्लेख नहीं मिलता है। अतः यह कहा जा सकता है कि वैदिक-युग में भिक्षुणियों का अस्तित्व नहीं था। यद्यपि उस समय ब्रह्मवादिनी-स्त्रियों का अस्तित्व था तथा अनेक विदुषी नारियों ने धार्मिक-क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया था[९] तथापि उससे भिक्षुणी के अस्तित्व के विषय में किसी भी प्रकार का निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता है। उस समय महिलाएँ पति की सहयोगिनी के रूप में ही धार्मिक (यज्ञादि) कृत्य करती थीं। अतः उनका धार्मिक-जीवन गृहस्थाश्रम तक ही सीमित था। वानप्रस्थ एवं सन्यासाश्रम में प्रवेश करने का अधिकार केवल पुरुष-वर्ग को ही था।[१०] उत्तर-वैदिक-काल में नारी धार्मिक-अधिकारों से वंचित कर दी गई।[११] उसे उपनीत एवं शिक्षित करना भी अनावश्यक समझा जाने लगा। फलतः अनुपनीत एवं अशिक्षित नारी शूद्र की श्रेणी में आ जाने से भोग्यवस्तु के रूप में समाज में रहने लगी थी। उसे वेदों के मन्त्रोच्चारण तक का भी अधिकार नहीं रह गया था। इस प्रकार बौद्ध-युग के आते-आते नारी के जीवन का मुख्य उद्देश्य विवाहित होकर जननी जैसे महत्त्वपूर्ण पद को प्राप्त कर पति को पितृ-ऋण से मुक्त कर देना मात्र हो गया था। उस समाज में न तो कोई भिक्षुणी थी और न नारी को भिक्षुणी बनना संभव ही था।

बौद्ध-कालीन स्थिति :

बौद्ध-आगमों से ज्ञात होता है कि तत्कालीन भारत में न केवल

---

९. प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति, पृ० १५५–१५७

१०. The Vanaprasthasrama and the Samnyasasrama do not seem to be meant for women, probably because of the hardship involved in these····

—Hindu Social Organization, p. 283.

११. हिन्दू परिवार मीमांसा, पृ० १३१

परिवार की स्त्रियों को पुरुषों के समान धर्म-पालन का अधिकार था, अपितु वे पुरुषों की भाँति गृहावास त्यागकर बुद्ध के द्वारा संस्थापित भिक्षुणी-संघ में भी प्रवेश लेती थीं। संघ में पुरुष एवं नारी, क्रमशः भिक्षु एवं भिक्षुणी के रूप में रहकर दुःखों के विनाश के लिए साधना करते थे। बुद्ध के द्वारा भिक्षुणी-संघ की स्थापना का नारियों ने हार्दिक स्वागत किया था तथा उसमें प्रविष्ट होने के लिए अभूतपूर्व उत्साह दिखाया था। किन्तु भिक्षुसंघ से भिक्षुणी-संघ की स्थापना का इतिहास सर्वथा भिन्न है। बुद्ध ने जिस समय अपने धर्म का प्रवर्तन किया था, उस समय केवल भिक्षु-संघ की ही स्थापना की थी तथा उसके विस्तार के लिए अथक परिश्रम किया था,[१२] किन्तु उन्होंने भिक्षुणी-संघ की स्थापना भिक्षु-संघ की स्थापना के पांच वर्ष बाद अनिच्छापूर्वक की थी। जैसा कि बौद्ध-आगमों से ज्ञात होता है, इस पाँच वर्ष की अवधि में न तो किसी नारी ने पारिवारिक-जीवन त्याग कर प्रव्रजित होने का प्रयत्न किया था और न बुद्ध ने नारी को इस विषय में किसी भी प्रकार का प्रोत्साहन ही दिया था।[१३]

पाँच वर्ष तक बौद्ध भिक्षुणी-संघ के अभाव का कारण :

यह कहना अनुचित होगा कि बौद्ध-युगीन समाज में नारियाँ प्रव्रज्या नहीं लेती थीं। चुल्लवग्ग से ज्ञात होता है कि उस समय भी कुछ सम्प्रदायों (जैन आदि) में स्त्री को प्रव्रज्या देने की परम्परा थी।[१४] भिक्षु-

---

१२. इदानि अनेन जटिलसहस्सं पब्बजितं, इमानि च अड्ढतेय्यानि परिब्बाजकसतानि सञ्जेय्यानि पब्बाजितानि। इमे च अभिञ्ञाता अभिञ्ञाता मागधिका समणे गोतमे ब्रह्मचरियं चरन्ती ति।

—महाव० पृ० ४१

१३. Women Under Primitive Buddhism, p. 98

१४. इमे हि नाम, आनन्द, अञ्ञतित्थिया दुरक्खातधम्मा मातुगामस्स अभिवादनं पच्चुट्ठानं अञ्जलिकम्मं सामीचिकम्मं न करिस्सन्ति किमङ्ग पन तथागतो अनुजानिस्सति मातुगामस्स....

—चुल्ल० पृ० ३७८

संघ की स्थापना के बाद पाँच वर्ष तक भिक्षुणी-संघ की स्थापना न होने का यह कारण हो सकता है कि इस लम्बी अवधि में या तो किसी नारी ने बुद्ध के सम्मुख प्रव्रज्या लेने की इच्छा को व्यक्त करने का साहस ही न किया हो या फिर किसी नारी के संघ-प्रवेश के असफल प्रयत्नों को महत्त्वहीन बनाने की दृष्टि से आगम-साहित्य में उल्लिखित नहीं किया गया हो। कारण जो कुछ भी रहा हो किन्तु प्रश्न यह है कि बुद्ध ने पुरुष-वर्ग को भिक्षु बनाने में जो दक्षता दिखाई, वह नारी को भिक्षुणी बनाने में क्यों नहीं दिखाई, अथवा नारी-वर्ग ने उस धर्म में पुरुषों के समान उत्साह एवं साहस के साथ भाग क्यों नहीं लिया जिसमें सिद्धान्त-रूप से नारियों को पुरुषों के समान ही दुःखों के क्षय करने में समर्थ माना गया था ?[15] उक्त प्रश्नों के उत्तर के लिए यह आवश्यक होगा कि नारी के प्रति बुद्ध के रुख के साथ-साथ उनके संघ के स्वरूप पर दृष्टिपात किया जाय।

बुद्ध, धर्म एवं नारी :

बुद्ध के गार्हस्थ्य-जीवन से ज्ञात होता है कि एक दिन उद्यान-विहार को जाते समय सिद्धार्थकुमार रोगी, वृद्ध, मृत एवं प्रव्रजित व्यक्तियों को देखकर वापस घर आ गये तथा अपने शयन-कक्ष में पलंग पर लेट गये। उसी समय परिचारिकाओं ने नृत्य, गीत, वाद्यादि से उनका मनोरंजन करना चाहा, किन्तु भोगों से विरक्त कुमार शीघ्र ही सो गये। प्रयोजनाभाव से परिचारिकाएं भी सो गईं। अर्धरात्रि के समय कुमार की अचानक निद्रा भंग हो गई। उस समय उन्होंने अस्त-व्यस्त अवस्था में सोई हुई परिचारिकाओं के घृणित-रूपों को देखा जिससे उन्हें भोगों के प्रति घोर ग्लानि उत्पन्न हो गई। उन्होंने

---

१५. भब्बो, आनन्द, मातुगामो तथागतप्पवेदिते धम्मविनये अगारस्मा अनगारियं पब्बजित्वा अरहत्तफलं पि सच्छिकातुं।

—वही, पृ० ३७४

तुरन्त गृहावास छोड़ने का निश्चय किया।[१६] घर छोड़ते समय उनके हृदय में अपने नवजात-पुत्र को देखने की इच्छा हुई और वे राहुल-माता की कोठरी के दरवाजे पर पहुँचे। कुमार देहली पर रुक गये और राहुल-माता, जो कि अपने हाथ को बच्चे के मस्तक पर रखकर सो रही थी, को देखा। उनके मन में विचार आया कि यदि राहुल-माता का हाथ हटाकर शिशु को उठाया गया तो राहुल-माता की नींद खुल जायगी और मेरे 'महाभिनिष्क्रमण' में विघ्न उपस्थित हो जायगा।[१७] अतः वे अपने शिशु को इच्छा होते हुए भी बिना देखे लौट आये।

बुद्धत्व प्राप्ति के उपरान्त उन्होंने अपने धर्म का प्रचार किया, तथा भिक्षु-संघ की स्थापना की। प्रारम्भ में प्रव्रज्या एवं उपसम्पदा के इच्छुक व्यक्तियों को उन्होंने यह कहकर प्रव्रजित एवं उपसम्पन्न किया कि "भिक्षु आओ, धर्म अच्छी तरह से व्याख्यात है, दुःखों के नाश के लिये भली भाँति ब्रह्मचर्य का पालन करो।"[१८]

बुद्ध के उपर्युक्त गत जीवन से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि उन्होंने स्त्रियों के घृणित-रूपों से प्रव्रज्या की अन्तिम प्रेरणा पाई थी तथा प्रव्रज्या के हेतु जाते समय इस बात में सतर्कता अपनाई थी कि उनकी पत्नी को उनके गृहत्याग की जानकारी न हो। अतः इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि बुद्ध स्त्रियों को न केवल सांसारिक दुःखों

---

१६. सो तासं तं विप्पकारं दिस्वा भिय्योसोमत्ताय कामेसु विरत्तो अहोसि···· अतिविय पब्बज्जाय चित्तं नमि। सो अज्जेव मया महाभिनिक्खमनं निक्खमितुं वट्टतीति···

—जा० क० पृ० ४७

१७. सचाहं देविया हत्थं अपनेत्वा मम पुत्तं गण्हिस्सामि देवी पबुज्झिस्सति एवं मे गमनन्तरायो भविस्सति····

—वही, पृ० ४८

१८. "एथ भिक्खवो" ति भगवा अवोच—"स्वाक्खातो धम्मो, चरथ ब्रह्मचरियं सम्मा दुक्खस्स अन्तकिरियाया" ति।

—महाव० पृ० १६, २१

का मूल कारण ही मानते थे अपितु उन्हें दुःख-विनाश में बाधक भी मानते थे। इसीलिए उन्होंने सम्यक् प्रकार से दुःखों का नाश करने के लिए ब्रह्मचर्य का पालन करना आवश्यक तथा स्त्रियों को ब्रह्मचर्य का विकार[१९] बताया था। चूंकि बुद्ध संघ को विशुद्ध ब्रह्मचर्य के पालन करने का प्रमुख स्थल बनाना चाहते थे, अतः वे उससे ब्रह्मचर्य के विकार (स्त्री) को दूर रखना चाहते थे। यद्यपि बुद्ध नारी को भी पुरुष के समान धर्म पालन करने का अधिकारी मानते थे, किन्तु साथ में वे यह भी चाहते थे कि स्त्रियाँ अपने इस अधिकार का प्रयोग घर में रहकर उपासिका के रूप में ही करें। सारांश यह कि बुद्ध सैद्धान्तिक-दृष्टि से स्त्री एवं पुरुष में धर्माचरण करने की समान क्षमता स्वीकार करते थे किन्तु व्यावहारिक-दृष्टि से वे स्त्रियों को संघ में प्रवेश देने के पक्ष में नहीं थे।

बौद्ध-भिक्षु-संघ एवं नारी :

बुद्ध का संघ सामाजिक एवं राजनीतिक हस्तक्षेपों से मुक्त संस्था थी। यद्यपि संघ की आन्तरिक-व्यवस्था तत्कालीन गणतन्त्र-प्रणाली पर आधारित थी एवं भिक्षुओं को भिक्षा आदि के लिए समाज में जाने पर जिन नियमों का पालन करना होता था, वे (नियम) सामाजिक-व्यवस्था पर आधारित थे, तथापि राज्य का कोई भी नियम संघ के किसी सदस्य पर लागू नहीं होता था तथा न किसी कारण संघ के सदस्यों को राज्य की ओर से दण्डित ही किया जा सकता था।[२०] फलतः संघ को भी राज्य एवं समाज का संरक्षण प्राप्त करने का वैधानिक अधिकार नहीं रह गया था।

इस प्रकार के संघ में ब्रह्मचर्य की अटूट साधना के हेतु पुरुष-वर्ग

---

१९. इत्थी मलं ब्रह्मचरियस्स, एत्थायं सज्जते पजा।

—संयुत्त० १।३६

२०. ये समणेसु सक्यपुत्तियेसु पब्बजन्ति, न ते लब्भा किञ्चि कातुं;

—महाव० पृ० ७८

ही निभ सकता था, नारी-वर्ग नहीं। कारण, शरीर-रचना की भिन्नता के कारण पुरुष एवं स्त्री-वर्गों की ब्रह्मचर्य पालन की क्षमता में भी भिन्नता थी। यदि पुरुष की इच्छा न हो तो उसे ब्रह्मचर्य से च्युत करना (जो कि संघ की प्रतिष्ठा के लिए खतरे की घंटी थी) सम्भव नहीं था, जब कि ब्रह्मचर्य से रहने की तीव्र इच्छा होने पर भी नारी को उससे सहज ही में च्युत किया जा सकता था। इस खतरे की सम्भावना उस समय और भी अधिक बढ़ जाती थी, जब राज्य एवं समाज की छत्रच्छाया से शून्य नारी को किसी एकान्त स्थान पर बलिष्ठ एवं कामुक व्यक्ति पा जाता था। बुद्ध के संघ का जो रूप था वह नारी की सुरक्षा करने में असमर्थ था। इस कारण से भी बुद्ध नारी को संघ में प्रवेश नहीं देना चाहते थे। सारांश यह कि बुद्ध अपने धर्म को चिर-स्थायी बनाने के लिए संघ से नारी को दूर रखना चाहते थे।

बौद्ध-भिक्षुणी-संघ का प्रारम्भ :

भिक्षु-संघ की स्थापना के पाँच वर्ष बाद बुद्ध की मौसी महाप्रजापति गौतमी उनके पास उस समय पहुँची जब वे कपिलवस्तु के न्यग्रोधाराम में विहार कर रहे थे तथा उनसे स्त्रियों के लिए प्रव्रज्या देने का अनुरोध किया किन्तु बुद्ध ने इस अनुरोध को स्पष्ट शब्दों में अस्वीकार कर दिया।[२१] गौतमी इस अस्वीकृति से निराश नहीं हुई। वह कुछ दिनों के बाद पुनः बुद्ध से मिलने वैशाली गई। इस बार उसने केशों को कटवा लिया था तथा शरीर पर काषाय वस्त्र धारण कर लिए थे। इसके अतिरिक्त अन्य शाक्य-स्त्रियों को भी साथ में ले लिया था। वह

---

२१. "साधु भन्ते, लभेय्य मातुगामो तथागतप्पवेदिते धम्मविनये अगारस्मा अनगारियं पब्बज्जं" ति। "अलं, गोतमि, मा ते रुच्चि मातुगामस्स ....पब्बज्जा" ति।

—चुल्ल० पृ० ३७२

कपिलवस्तु से वैशाली पैदल गई थी।[२२] गौतमी प्रव्रज्या पाने के पूर्व ही प्रव्रजित व्यक्ति जैसी वेशभूशा धारण कर पैदल इसलिए गई थी कि बुद्ध केवल नारी की शारीरिक दुर्बलता के कारण उसे संघ में प्रवेश देने के अयोग्य न समझें।

वैशाली में उसकी आनन्द से भेंट हुई। आनन्द ने गौतमी की इच्छा को समझकर स्वयं बुद्ध के पास जाकर स्त्रियों के लिए प्रव्रज्या देने का अनुरोध किया, किन्तु बुद्ध ने पुनः उस विषय में अपनी असहमति प्रकट की। तत्पश्चात् आनन्द ने बुद्ध को उनके उस सिद्धान्त का, जिसमें स्त्रियों को भी अर्हत पद पाने का अधिकारी बताया गया था, स्मरण कराते हुए कहा कि गौतमी आपकी अभिभाविका, पोषिका, क्षीर-दायिका है। जननी के मरने के बाद उसने बहुत उपकार किये हैं अतः स्त्रियों को प्रव्रज्या की अनुमति दें।[२३]

बुद्ध आनन्द के तर्कों में उलझ गये तथा अनिच्छापूर्वक संघ में स्त्रियों के प्रवेश का विधान किया। स्त्रियों की प्रव्रज्या एवं उपसम्पदा का विधान कर बुद्ध ने आनन्द से कहा कि यदि स्त्रियों को प्रव्रज्या एवं उपसम्पदा की अनुमति न दी जाती तो ब्रह्मचर्य चिरस्थायी होता क्योंकि जिस धर्म एवं विनय में स्त्रियाँ प्रव्रज्या नहीं पाती हैं, उसमें ब्रह्मचर्य चिरस्थायी होता है।[२४]

---

२२. अथ खो महापजापती गोतमी केस छेदापेत्वा कासायानि वत्थानि अच्छादेत्वा सम्बहुलाहि साकियानीहि सद्धिं येन वेसाली तेन पक्कामि।

—वही, पृ० ३७३

२३. "सचे, भन्ते, भब्बो मातुगामो तथागतप्पवेदिते धम्मविनये अगारस्मा अनगारियं पब्बजित्वा....अरहत्तफलं पि सच्छिकातुं; बहूपकारा, भन्ते, महापजापती गोतमी....साधू, भन्ते, लभेय्य मातुगामो....पब्बज्जं।"

—वही, पृ० ३७४

२४. सचे, आनन्द नालभिस्स मातुगामो....पब्बज्जं, चिरट्ठितिकं, आनन्द, ब्रह्मचरियं अभविस्स....यस्मिं धम्मविनये लभति मातुगामो....पब्बज्जं, न तं ब्रह्मचरियं चिरट्ठितिकं होति।

—वही, पृ० ३७६–३७७

आठ गुरुधर्म :

यद्यपि बुद्ध को नारियों के लिए संघ में प्रवेश देने का विधान करना पड़ा किन्तु उसके पूर्व उन्होंने आठ ऐसे नियम बना दिए जिसके कारण भिक्षुणी का स्तर भिक्षु की अपेक्षा निम्न हो गया। चुल्लवग्ग में इन्हें आठ गुरुधर्मों के नाम से कहा गया है, क्योंकि इनका पालन करना प्रत्येक भिक्षुणी के लिए अनिवार्य था तथा इनका कोई अपवाद नहीं था।[२५] वे गुरुधर्म इस प्रकार हैं—[२६]

(१) सौ वर्ष की भी उपसम्पन्न भिक्षुणी को उसी दिन के उपसम्पन्न भिक्षु के लिए अभिवादन, प्रत्युत्थान (भिक्षु को देखकर खड़ा हो जाना), अंजलि जोड़ना, कुशल समाचार आदि पूछना, करना चाहिये।

(२) भिक्षुणी को भिक्षु-हीन आवास में वर्षावास नहीं करना चाहिये।

(३) प्रति आधे मास भिक्षुणी को भिक्षु-संघ से उपोसथ की तिथि एवं उपदेश का समय पूछना चाहिये।

(४) वर्षावास कर चुकने पर भिक्षुणी को भिक्षु-भिक्षुणी—दोनों संघों के समक्ष देखे, सुने एवं जाने गये दोषों की प्रवारणा करनी चाहिये अर्थात् यह पूछना चाहिये कि क्या उनके ऊपर कोई दोष देखा, सुना या जाना गया है।

(५) गम्भीर दोष से युक्त भिक्षुणी को दोनों संघों के समक्ष पक्षमानत्व करना चाहिये।

(६) दो वर्षों में ६ नियमों को सीखने वाली शिक्षमाणा को दोनों संघों से उपसम्पदा ग्रहण करनी चाहिये।

---

२५. सचे, आनन्द, महापजापती गोतमी अट्ठ गरुधम्मे पटिग्गण्हाति, सावस्सा। होतु उपसम्पदा।

—वही, पृ० ३७४

२६. चुल्ल० पृ० ३७४–३७५

(७) भिक्षुणी को भिक्षु से किसी प्रकार का विद्वेष या दुर्व्यवहार नहीं करना चाहिये।

(८) भिक्षुणी को भिक्षु से अपशब्द नहीं कहना चाहिये।

इन आठ गुरुधर्मों का निरूपण कर बुद्ध ने संघ की प्रभुसत्ता भिक्षुओं के हाथ में दे दी। इसका कारण यह था कि वे यह भली-भाँति जानते थे कि स्त्रियों को संघ में अधिकार-सम्पन्न स्थान देने से न केवल संघ को ही हानि पहुँचेगी अपितु संघ के प्रति समाज की प्रतिकूल प्रतिक्रिया भी होगी।

बौद्ध-भिक्षुणी-संघ एवं नारी :

गौतमी के नेतृत्व में स्त्रियों को संघ में प्रवेश मिल जाने के उपरान्त नारी-वर्ग के सभी वर्गों में नवीन स्फूर्ति आ गई। इसके पूर्व पाँच वर्षों तक स्त्रियों एवं पुरुषों को समानाधिकार देने वाले बुद्ध के धर्म एवं विनय में पुरुष-वर्ग ही छाया हुआ था। सामाजिक-स्त्रियों की अवस्था इन पाँच वर्षों में पहले से भी अधिक दयनीय हो गई थी। कारण, बौद्ध-धर्म के पूर्व स्त्रियों की अवस्था कितनी ही शोचनीय क्यों न रही हो, कम से कम नारी को पति के संरक्षण के अचानक समाप्त हो जाने की आशंका नहीं रहती थी। माता-पिता को भी पुत्री के विवाह की चिन्ता अवश्य रहती थी, किन्तु सम्पन्न-घराने में पुत्री का विवाह कर वे निश्चिन्त हो जाते थे। बौद्ध-धर्म के प्रारम्भ से भिक्षुणी-संघ की स्थापना तक माता-पिता कन्या के विवाह के पहले की चिन्ताओं से ग्रस्त तो थे ही, साथ ही विवाह के बाद भी वे इस आशंका से पीड़ित रहते थे कि कहीं उनका जामाता प्रव्रज्या ग्रहण न कर ले।

भिक्षुणी-संघ की स्थापना का नारी के सभी वर्गों पर जो असर हुआ उसका वर्णन पूर्वोक्त अध्यायों में प्रसंगवश किया जा चुका है। अतः उसे पुनः लिखना अनावश्यक प्रतीत होता है।

नारियों के प्रवेश के बाद संघ के समक्ष तरह-तरह की कठिनाइयाँ आने लगी थीं। अतः बुद्ध को भिक्षुणी-संघ के लिए अलग से विधान

बनाना पड़ा। यद्यपि भिक्षुणी-संघ के लिए भिक्षु-संघ के आधार पर अवश्य विधान बनाया गया था किन्तु कुछ ऐसे भी नियम बनाये गये थे जिनका सम्बन्ध केवल भिक्षुणियों से था। इनको मुख्य रूप से तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है :—

(१) प्रथम भाग में उन नियमों को रखा जा सकता है जो भिक्षुणियों की शारीरिक आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर बनाये गये थे। जब कभी भिक्षुणियाँ समाज में जाती थीं तो उन्हें बड़ी सावधानी बरतनी पड़ती थी। यदि किसी कारण उनका सीना, रक्तस्राव से लिप्त चीवर आदि मनुष्यों को दृष्टिगोचर हो जाते थे, तो वे हँसी उड़ाने में नहीं चूकते थे। अतः उनके लिए भिक्षुओं से अधिक वस्त्रों को रखने का विधान किया गया था। इसके अतिरिक्त उन्हें उचित समय पर कमरबन्ध, लोहूसोख, सूत, उदकशाटी आदि भी धारण करना आवश्यक था।[२७] इन अतिरिक्त उपकरणों के विधान का यही उद्देश्य था कि भिक्षुणियों की समाज में अवज्ञा न हो।

(२) द्वितीय भाग में वे नियम रखे जा सकते हैं जो भिक्षुणियों के स्त्री-स्वभाव-जन्य एवं सङ्घविरुद्ध क्रियाकलापों के निषेध के लिए बनाये गये थे। चूँकि स्त्रियाँ स्वभाव से परिग्रही होती हैं, अतः वे अधिक से अधिक सञ्चय करना चाहती हैं। भिक्षुणियाँ भी ऐसा ही करती थीं। वे काम-भोगिनी नारियों की भाँति शरीर को सँवारने के हेतु नाना प्रवृत्तियाँ करती थीं, अतः उन सब प्रवृत्तियों को रोकना इन नियमों का मुख्य लक्ष्य था।[२८]

(३) तृतीय भाग में उन नियमों को रख सकते हैं जो भिक्षुणियों को काम-वासना से दूर रखने के निमित्त से बनाये गये थे। कामुकता से दूर रखने के लिए भिक्खुनी-पातिमोक्ख में प्राप्त नियमों की संख्या भिक्खु-पातिमोक्ख में प्राप्त नियमों की संख्या से अधिक है। इसका

---

२७. पाचि० पृ० ३८४; महाव० पृ० ३०९; चुल्ल० पृ० ३९०–३९१

२८. चुल्ल० पृ० ३८६–३८७

मुख्य कारण यह था कि स्त्रियाँ सदैव पुरुषों से अधिक कामुक होती हैं। साथ ही उनको ब्रह्मचर्य से च्युत करने के लिए समाज में भी काम-लोलुप पुरुषों की कमी नहीं होती। अतः भिक्षुणियों को ब्रह्मचर्य से स्खलित होने से बचाने के लिए ये नियम बनाये गये थे।[२९]

बौद्ध-भिक्षुणी एवं समाज :

भिक्षुणियों को अपना जीवन बड़े ही संयत ढंग से व्यतीत करना होता था। उन्हें सदैव इस बात का ध्यान रखना आवश्यक था कि कहीं उनके जीवनयापन के तरीकों से संघ की प्रतिष्ठा को हानि तो नहीं होगी, किन्तु इसके साथ ही उन्हें यह भी ध्यान रखना होता था कि कहीं उनका कोई कार्य गृहस्थाश्रम में जीवन बिताने वाली स्त्रियों से एकदम विलक्षण तो नहीं है। तात्पर्य यह कि भिक्षुणी को संघ एवं समाज के आदर्शों का सन्तुलन रखकर जीवनयापन करना होता था। यदि भिक्षुणियाँ सामाजिक-नारियों से पूर्णतया भिन्न आचार-विचार का पालन करती थीं तो वे साधारण मनुष्यों के व्यंग एवं उपहास की पात्र होती थीं, और यदि वे भिक्षुणी-जीवन के आदर्शों की उपेक्षा कर जीवनयापन करती थीं तो लोकनिन्दा की पात्र होती थीं।

भिक्षुणियों को उनकी विद्वत्ता के कारण समाज के कुछ व्यक्तियों द्वारा अवश्य सम्मान मिला था किन्तु कुछ लोग अवसर पाकर उनका दुरुपयोग भी करते थे। यह प्रवृत्ति उस समय और भी अधिक पाई जाती थी, जब भिक्षुणी नवयुवती एवं सुन्दरी होती थी। इसका कारण यह था कि भिक्षुणी के साथ अनुचित कार्य करने से व्यक्ति सामाजिक या राजनीतिक दण्ड का भागी नहीं होता था। अतः एकान्त में पाकर कामुक व्यक्ति भिक्षुणियों को दूषित कर दिया करते थे।[३०] कभी-कभी समाज

---

२९. पाचि० ३०४-३०६, ३१०; चुल्ल० ३८२–३८३

३०. (क) अथ खो ता भिक्खुनियो नाविके...एतदवोचुं—"साधु नो, आवुसो, तारेथा" ति...."नाय्ये सक्का उभो सकिं तारेतुं" ति....उत्तिण्णो उत्तिण्णं दूसेसि। अनुत्तिण्णो अनुत्तिण्णं दूसेसि।

—पाचि० पृ० ३०४

के सम्पन्न-व्यक्ति भिक्षुणी में आसक्त होकर उन्हें दूषित करने की दृष्टि से आमन्त्रित करते थे।[31] तात्पर्य यह कि भिक्षुणी-संघ के उदय से समाज में आंशिक रूप से व्यभिचार को भी प्रोत्साहन मिला था।

इसके अतिरिक्त भिक्षुणी से सामाजिक भ्रष्ट-नारियां कभी-कभी गुप्त कार्य भी कराती थीं। एक प्रोषित-पतिका स्त्री ने जार से प्राप्त गर्भ को गिरा कर बराबर घर आने वाली भिक्षुणी को पात्र में रखकर फेंकने के लिए दिया था।[32]

संक्षेप में कहा जा सकता है कि समाज ने जिस उत्साह के साथ भिक्षु-वर्ग का स्वागत एवं सम्मान किया था, उस उत्साह से भिक्षुणी-वर्ग का न तो स्वागत ही किया और न ही उसके प्रति सम्मान ही प्रदर्शित किया।

जैन-कालीन स्थिति :

जैन-आगमों से ज्ञात होता है कि उस समय नारियों को न केवल गार्हस्थ्य अवस्था में पुरुषों के समान धर्माचरण करने का अधिकार था, अपितु भिक्षुणी बनने में भी उन पर संघ की ओर से किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं था। इतना ही नहीं अपितु जैन-मान्यता के अनुसार स्त्री तीर्थंकर भी बन सकती थी। मल्ली ने स्त्री होते हुए भी तीर्थंकर

(ख) मनुस्सा तं भिक्खुनिं पस्सित्वा दूसेसुं।

—वही, पृ० ३०६

३१. "न बहुकती साल्हो मिगारनत्ता भिक्खुनीसङ्घस्स भत्तं अकासि। मं सो दूसेतुकामो।

—वही, पृ० २८४

३२. सा गब्भं पातेत्वा कुलूपिकं भिक्खुनिं एतदवोच—"हन्दय्ये, इमं गब्भं पत्तेन नीहरा" ति।

—चुल्ल० पृ० ३८८

पदवी प्राप्त की थी।[33] यहाँ यह उल्लेखनीय है कि बुद्ध के मतानुसार स्त्री सम्यक्-सम्बुद्ध नहीं हो सकती थी।[34] अतः यह कहा जा सकता है कि बौद्ध-युग की अपेक्षा जैन-युग में नारी के प्रति उदार दृष्टिकोण था। तात्पर्य यह कि जैन-युग में स्त्रियों को सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दोनों ही दृष्टियों से धार्मिक-क्षेत्र में पुरुषों के समान माना जाता था।

जैन-भिक्षुणी-संघ की प्राचीनता :

जैनागमों के अनुसार भिक्षुणी-संघ का अस्तित्व प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के समय में भी था। उनके भिक्षुणी-संघ में सुन्दरी एवं ब्राह्मी के नेतृत्व में तीन लाख भिक्षुणियाँ थीं।[35] मल्ली के भिक्षुणी-संघ में बन्धुमती के नेतृत्व में ५५ हजार भिक्षुणियाँ थीं।[36] अरिष्टनेमि के भिक्षुणी-संघ में यक्षिणी के नेतृत्व में ४० हजार भिक्षुणियाँ थीं।[37] पार्श्वनाथ एवं महावीर के भिक्षुणी-संघों में क्रमशः पुष्पचूला एवं चन्दना के नेतृत्व में ३८ एवं ३६ हजार भिक्षुणियों का अस्तित्व था।[38]

---

३३. (क) नाया० १।८।७०, ८३

(ख) दिगम्बर-जैन परम्परा में मल्ली को मल्लिकुमार माना गया है तथा स्त्री-मुक्ति का निषेध किया गया है।

३४. अट्ठानमेतं भिक्खवे, अनवकासो यं इत्थी अरहं अस्स सम्मासम्बुद्धो।

—अंगुत्तर० १।१९

३५. उसभस्स णं अरहओ····तिण्णिसयअज्जियासहस्सीओ।

—कल्प० सू०-२१५

३६. मल्लिस्स णं अरहओ बंधुमइपामोक्खाओ पणपन्नं अज्जिया सहस्सीओ···

—नाया० १।८।८३

३७. अरहओ णं अरिट्ठनेमिस्स अज्जजक्खणिपामोक्खाओ चत्तालीसं अज्जिया-सहस्सीओ····

—कल्प० सू० १७७

३८. वही, सू० १६२ एवं १३५

चूँकि ऋषभदेव, मल्ली एवं अरिष्टनेमि तक इतिहासज्ञ नहीं पहुंच सके हैं, अतः उनके भिक्षुणी-संघों की संख्या को देखते हुए उसे पौराणिक कह सकते हैं, किन्तु पार्श्वनाथ एवं महावीर ऐतिहासिक व्यक्ति माने जा चुके हैं। अतः उनके चतुर्विध (भिक्षु, भिक्षुणी, उपासक, उपासिका) संघ को भी ऐतिहासिक-तथ्य ही मानना होगा।[३९]

चुल्लवग्ग में प्राप्त उल्लेख से ज्ञात होता है कि बौद्ध-भिक्षुणी-संघ की स्थापना होने से पूर्व भी भिक्षुणियों का अस्तित्व था। उक्त उल्लेख के अनुसार एक बार गौतमी ने आनन्द से कहा कि अच्छा हो यदि भगवान् भिक्षुओं एवं भिक्षुणियों में उपसम्पदा की वृद्धता के अनुसार अभिवादन आदि करने की अनुमति दे दें। आनन्द ने गौतमी की इच्छा को जब बुद्ध के सन्मुख प्रस्तुत किया तो उन्होंने कहा कि जब अन्य तीर्थिक भी, जिनका धर्म ठीक से नहीं कहा गया है, स्त्रियों के अभिवादन आदि की अनुमति नहीं देते हैं, तो तथागत अपने धर्म में, जो कि सुन्दर प्रकार से व्याख्यात है, उसको अनुमति कैसे दे सकते हैं।[४०]

यद्यपि बुद्ध के उक्त कथन से यह स्पष्ट नहीं होता कि 'अन्य तीर्थिक' पद से उनका संकेत किन तीर्थिकों से था, तथापि उक्त उल्लेख के विषय तथा जैन-भिक्षुणी-सङ्घ के नियमों पर दृष्टिपात करने से यह अनुमान सहज में ही किया जा सकता है कि बुद्धकथित अन्य तीर्थिकों में जैन तीर्थिक भी उद्दिष्ट थे।

---

३९. तुलना कीजिए—

Even though we cast aside the existence of the nun-order at the time of the first Tirthankara of the Jainas, who, it seems, is more a legendary figure than a historical one, the antiquity of the order can go back safely to the times of Parsva.

—History of Jaina Monachism, p. 502

४०. देखिए—उद्ध० १४

जैन-भिक्षु-संघ एवं नारी :

यद्यपि जैन-युग में भी भिक्षुणियों के शील की रक्षा करना एक जटिल समस्या थी फिर भी वह उतनी भीषण नहीं रह गई थी जितनी कि बौद्ध-युग में थी। कारण, बौद्ध-संघ की भाँति जैन-संघ की व्यवस्था गणतन्त्र के सिद्धान्तों पर आधारित नहीं थी, अपितु जैन-युग में भिक्षु-भिक्षुणी-संघ की सुरक्षा एवं उचित संचालन का भार संघ के वरिष्ठ भिक्षु (जिसे आचार्य पद से कहा जाता था) पर रहता था। वह न केवल निर्मित नियमों के आधार पर ही संघ का संचालन एवं संरक्षण करता था, अपितु यदि परिस्थितियाँ विवश करतीं, तो नये नियमों का निर्माण भी कर सकता था। फलतः वह संघ की (विशेषरूप से भिक्षुणियों की) रक्षा के निमित्त सतत जागरूक रहता था।[४१] अतः नारी को प्रव्रज्या देने में जैन-भिक्षु-संघ का आचार्य किसी प्रकार की रोक नहीं लगाता था और न ही हिचकता था।

जैन-भिक्षुणी का स्तर :

जैन-युग में भी भिक्षुणी-वर्ग का स्तर भिक्षु-वर्ग की अपेक्षा निम्न था। प्राप्त उल्लेखों से ज्ञात होता है कि तीन वर्ष का उपसम्पन्न भिक्षु तीस वर्ष की उपसम्पन्न भिक्षुणी का उपाध्याय एवं पाँच वर्ष का उपसम्पन्न भिक्षु साठ वर्ष की उपसम्पन्न भिक्षुणी का आचार्य हो सकता था।[४२] किन्तु इस युग में भिक्षुणी का स्तर उतना गिरा हुआ नहीं था, जितना कि बौद्ध-युग में था। भिक्षुणी-संघ की

---

४१. निशीथ : एक अध्ययन, पृ० ६६

४२. (क) तिवासपरियाए समणे निग्गन्थे तीसंवासपरियाए समणीए निग्गन्थीए कप्पइ...उवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए।

—वव० ७।१६

(ख) पञ्चवासपरियाए समणे निग्गन्थे सट्ठिवासपरियाए समाणीए निग्गन्थीए कप्पइ आयरियउवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए।

—वही, ७।२०

वरिष्ठ अधिकारिणी भी भिक्षु-संघ के निमित्त पुरुष को प्रव्रज्या दे सकती थी तथा भिक्षु-संघ का सर्वोच्च अधिकारी भिक्षु संघ के निमित्त नारी को प्रव्रज्या नहीं दे सकता था।[४३] सामान्यतया स्त्रियाँ वरिष्ठ भिक्षुणी (संघ की अधिकारिणी) से ही प्रव्रज्या लेती थीं। यदि कभी परिस्थितिवश भिक्षु स्त्री को प्रव्रज्या देता था तो यह उसका कर्त्तव्य था कि अनुकूल परिस्थिति के आने पर, उस प्रव्रजित नारी को यथाशीघ्र किसी भिक्षुणी-संघ को सौंप दे। संघ की भिक्षुणियों का भिक्षुओं से सीधा सम्बन्ध नहीं रहता था। भिक्षुणियों का सम्बन्ध प्रवर्तिनी से होता था। यद्यपि आचार्य एवं उपाध्याय भिक्षुणी-संघ के वरिष्ठ अधिकारो होते थे, और वे भिक्षु होते थे किन्तु उनका प्रमुख कार्य भिक्षुणी-संघ का दिग्दर्शन एवं संरक्षण ही रहता था।[४४] यही कारण है कि भिक्षुणी-सङ्घ को आचार्य एवं उपाध्याय से हीन होकर रहने का निषेध था।[४५] वे भिक्षुणी-सङ्घ के आन्तरिक कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करते थे, अपितु जब प्रवर्तिनी को सङ्घ की आन्तरिक व्यवस्था के प्रसंग में कोई संशय होता था, तो वे (आचार्य, उपाध्याय) उसकी सहायता करते थे।[४६] अतः जैन-युग में भिक्षुणियों का सैद्धान्तिक-दृष्टि से निम्न स्तर अवश्य था किन्तु व्यावहारिक-दृष्टि से उसका विशेष महत्त्व नहीं था।

जैन-भिक्षुणी-संघ एवं नारी :

चूँकि जैन-युग तक भिक्षुणी-सङ्घ कोई नवीन संस्था नहीं रह गई

---

४३. (क) कप्पइ निग्गन्थीणं निग्गन्थं निग्गन्थाणं अट्ठाए पव्वावेत्तए...

—वही, ७।९

(ख) नो कप्पइ निग्गन्थाणं निग्गन्थि अप्पणो अट्ठाए पव्वावेत्तए...

—वही, ७।६

४४. History of Jaina Monachism, p. 468

४५. ...नो से कप्पइ अणायरियउवज्झाइत्तए होत्तए....

—वव० ३।१२

४६. बृह० भाग ५, गा० ६०४८

थी, इसीलिए उसके प्रति सामाजिक-नारियों का आकर्षण भी मन्द हो गया था। इस युग में नारी भिक्षुणी-जीवन के आकर्षण के कारण नहीं, अपितु सांसारिक-जीवन से खिन्न होने के कारण ही प्रव्रज्या लेती थी। फलतः सङ्घ में अधिक भिक्षुणियों के न रहने से उनके अनुशासन की भी कठिन समस्या नहीं रह गई थी। यही कारण है कि जैनागमों में अधिकांश नियम भिक्षु एवं भिक्षुणी---दोनों के लिए सामान्यरूप से मिलते हैं।[४७] दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि जैन-विनय में अधिकांश नियम भिक्षु-भिक्षुणी—दोनों के निमित्त से बनाये गये थे। अलबत्ता, दूषित मनोवृत्ति के मनुष्यों से रक्षा के निमित्त भिक्षुणियों के लिए कुछ विशिष्ट नियमों का सर्जन किया गया था।[४८]

जैन-भिक्षुणी एवं समाज :

मूल जैनागमों में भिक्षुणियों के ऊपर सामाजिक-व्यक्तियों के द्वारा अनाचार किये जाने के उल्लेख नहीं मिलते हैं। अतः इससे इतना निष्कर्ष तो निकाला ही जा सकता है कि बौद्ध-युगीन भिक्षुणियों को सदस्यों की ओर से जो भय बना रहता था, वह जैन-युग तक कम हो गया था। इसके दो कारण थेः—

प्रथम यह कि भिक्षुणियों की संख्या जैन-युग में अधिक नहीं थी। अतः उनका समाज में विशिष्ट स्थान बन गया था। राज्य एवं समाज का सबसे बड़ा व्यक्ति भी भिक्षुणी या परिव्राजिका को देखकर आसन से उठकर उनका स्वागत करता था, आसन देता था तथा उचित सम्मान प्रदर्शित करता था।[४९] यदि भिक्षुणी या परिव्राजिका का किसी के द्वारा उपहास एवं अपमान किया जाता था, तो वे उस उपहास या अपमान का बदला भी लेती थीं। उदाहरण-स्वरूप जब चोक्षा मल्ली के कारण

४७. History of Jaina Monachism, p. 473

४८. बृह० भाग ३, पृ० ६५१, ६६०, ६७०...

४९. तए णं से जियसत्तू चोक्खं परिव्वाइयं एज्जमाणं पासइ, २ सीहासणाओ अब्भुट्ठेइ...सक्कारेइ २ आसणेणं उवनिमंतेइ।

—नाया० १।८।७९

उसकी दासियों से उपहसित एवं अपमानित हुई तो उसने मल्ली के प्रति विद्वेष धारण किया तथा जितशत्रु नामक राजा को मल्ली के साथ विवाह करने के लिए उकसाया।[५०] इससे यह कहा जा सकता है कि जैन-युग में भिक्षुणियाँ समाज के सदस्यों से सम्मान की अपेक्षा रखती थीं तथा अपमानित होने पर उसका प्रतीकार किया करती थीं।

द्वितीय यह कि जैन-युग की भिक्षुणियाँ बौद्ध-युगीन भिक्षुणियों की भाँति असंरक्षित नहीं थीं। कारण, जहाँ भिक्षुणियों के शील की सुरक्षा का प्रश्न होता था, वहाँ आचार्य भिक्षुओं को भिक्षुणी की शील-रक्षा का स्पष्ट आदेश देते थे। भिक्षुणी की शील-रक्षा के निमित्त नियुक्त भिक्षु उद्दण्ड एवं कामुक पुरुषों को मार भी डालते थे।[५१] इसके अतिरिक्त आचार्य देश एवं काल की दृष्टि से भिक्षुणी की शील-रक्षा हेतु नवीन नियमों का भी सर्जन कर देते थे।[५२]

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि बौद्ध-युग में भिक्षुणी-सङ्घ के आविर्भाव से उसे समाज में नाना कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, किन्तु जैन-युग तक सङ्घ उन कठिनाइयों से सतर्क हो गया तथा उनके परिहारार्थ ऐसी व्यवस्था करने लगा जिससे भिक्षुणियों के कारण समाज के कामलोलुप व्यक्तियों की स्वच्छन्द-प्रवृत्ति को प्रोत्साहन नहीं मिल सका।

---

५०. तए णं सा चोक्खा मल्लीए २ दासचेडियाहिं···आसुरुत्ता जाव मिसिमिसेमाणी मल्लीए २ पओसमावज्जइ····

—वही

५१. निशीथ : एक अध्ययन, पृ० ६६

५२. वही

सामान्य-स्थिति

शिक्षा

वैदिक-कालीन स्थिति

उत्तर-वैदिक-कालीन स्थिति

आगम-कालीन स्थिति

शास्त्रीय शिक्षा एवं भिक्षुणी-संघ

शिक्षा का आंशिक प्रचलन एवं उसके साधन

प्रसाधन

प्रसाधन के साधन

वस्त्राभरण

विलेपनाभरण

माल्याभरण

अलंकाराभरण

परदा-प्रथा

वैदिक एवं उत्तर-वैदिक-कालीन स्थिति

आगम-कालीन स्थिति

परदा-प्रथा के अभाव का कारण

व्यभिचार

आगम-काल में एक भीषण अपराध

प्राग्-आगम-काल में एक उपपातक

व्यभिचारिणी स्त्रियाँ

धार्मिक-प्रवृत्ति

वैदिक-कालीन स्थिति

उत्तर-वैदिक-कालीन स्थिति
धार्मिक-अधिकारों का हनन
अनुपनीत नारी की धार्मिक क्रियाएँ
आगम-कालीन नारी की धार्मिक-प्रवृत्तियाँ
धार्मिक व्यक्तियों के प्रति सम्मान
धार्मिक उत्सवों में उत्साह

●

: ६ :

सामान्य-स्थिति

शिक्षा

शिक्षा नर एवं नारी दोनों के ही जीवन में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण रहती है। कारण, शिक्षा से ही नर-नारी एक ओर तो बौद्धिक विकास को प्राप्त कर औचित्य एवं अनौचित्य का ज्ञान प्राप्त करते हैं और दूसरी ओर वे सामाजिक एवं पारिवारिक कर्त्तव्यों के प्रति जागरूक होते हैं।

प्राचीन भारत में नारी-शिक्षा का प्रश्न अद्भुतता एवं उतार-चढ़ाव से परिपूर्ण है। अद्भुत इसलिए कि उत्तर-वैदिक-काल की अपेक्षा वैदिक-कालीन नारी-शिक्षा अधिक उन्नत थी तथा उतार-चढ़ाव से परिपूर्ण इसलिए कि कालान्तर में शिक्षा की दृष्टि से नारी-वर्ग में पर्याप्त परिवर्तन होते रहे।

वैदिक-कालीन स्थिति :

वैदिक-कालीन शिक्षा-जगत में नारी का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान था। उस समय नारियों को पुरुषों के समान पूर्ण शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार था। वे साहित्य-रचना में भी उल्लेखनीय सहयोग करती थीं। उदाहरणस्वरूप विश्ववारा, घोषा, लोपामुद्रा प्रभृति नारियों ने ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों की रचना की थी।[१] इसका प्रधान कारण यह था कि उस समय नारी को प्रत्येक धार्मिक-कृत्य एवं वेद-मन्त्रों के उच्चारण का पूर्ण अधिकार था। वह अपने पति को यज्ञ सम्पन्न करने में अनिवार्यरूप से सहयोग प्रदान करती थी। इसलिए नारियों को प्रारम्भ में ही पूर्ण शिक्षा दे दी जाती थी।

उस समय शिक्षा प्राप्त करनेवाली कन्याओं को दो भागों में विभक्त

---

१. Great Women of India, p. 95

किया जाता था—१. सद्योवधू एवं २. ब्रह्मवादिनी। सद्योवधू विवाह के पूर्व वैवाहिक-जीवन की आवश्यकतानुसार कुछ मन्त्रों का अध्ययन कर लेती थी, जबकि ब्रह्मवादिनी अपनी शिक्षा को पूर्ण करके ही विवाह करती थी।[२]

उत्तर-वैदिक-कालीन स्थिति :

उत्तर-वैदिक-काल में भी नारी-शिक्षा की स्थिति अच्छी थी। उस समय की विदुषियों में मैत्रेयी, गार्गी आदि विशेषरूप से स्मरणीय हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि जनक के यज्ञ के अवसर पर हुए दार्शनिक-शास्त्रार्थ में गार्गी के प्रश्न सबसे अधिक विद्वत्तापूर्ण थे।[३]

कालान्तर में परिस्थितियाँ बदलीं, तथा नारी को शिक्षा के अधिकार से शनैः-शनैः वंचित किया जाने लगा। उनका उपनयन संस्कार, जिसके बिना नर-नारी को शिक्षा प्राप्त करने का अधिकारी नहीं माना जाता था, बन्द हो गया तथा वेद-मन्त्रोच्चारण पर प्रतिबंध लगा दिया गया। दूसरे शब्दों में शिक्षा की दृष्टि से उनकी स्थिति शूद्र जैसी हो गई।

नारी-शिक्षा पर लगाये गये प्रतिबन्ध के काल को निर्धारित करना अत्यन्त कठिन है,[४] कारण ऋग्वेद में ही नारियों की बौद्धिक-शक्ति पर अवज्ञा का भाव प्रकट किया गया है।[५] इस प्रकार का भाव अविच्छिन्न रूप से बौद्ध-युग तक विद्यमान रहा था, कारण संयुत्त-निकाय में भी एक स्थल पर उसी प्रकार का अवज्ञा का भाव निहित है। उसके अनुसार मार ने सोमा भिक्षुणी से कहा था कि ऋषि लोग

---

२. प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति, पृ० १५७

३. Indian Education in Ancient and Later Times, p. 74

४. Ibid. p. 75

५. ऋग्वेद० ८।३४।१७

जिस पद को प्राप्त करते हैं, उसे दो अंगुल भर प्रज्ञावाली स्त्रियाँ नहीं पा सकती हैं।[६]

जब उक्त प्रतिबन्ध के कारण पर दृष्टिपात करते हैं, तो ज्ञात होता है कि ज्यों-ज्यों वैदिक-मन्त्रों की पवित्रता में विश्वास बढ़ा, त्यों-त्यों उसे अधिक सुरक्षित रखने के प्रयास किये गये। इन प्रयासों में एक प्रयास नारी द्वारा उनके उच्चारण पर प्रतिबन्ध लगा देना भी था। कारण, नारियों का उच्चारण दूषित रहता था तथा उनके लिए विवाह के पूर्व वैदिक पाठ्यक्रम को पूर्ण करना सम्भव नहीं था, जब कि वेदों का आंशिक या अल्प-ज्ञान व्यर्थ ही नहीं, घातक माना जाता था। इसी प्रकार वैदिक-मन्त्रों का अशुद्ध उच्चारण भी भयंकर अपराध माना जाता था। इसके अतिरिक्त शिक्षा नारी के जीवन में अनुपयोगी हो गई थी। कारण, उसे स्वतन्त्रतापूर्वक जीवन यापन करना निषिद्ध था। नारी को हर अवस्था में पराश्रित रहने का विधान था।[७]

इस प्रकार बौद्ध-युग के प्रारम्भिक काल तक नारी-शिक्षा समाप्त-सी हो चुकी थी। नारी को विवाह के पूर्व तथा पश्चात् जैसा कि अन्यत्र कहा जा चुका है, केवल कुशल गृहिणी बनने की ही शिक्षा दी जाती थी।[८] इसका प्रधान कारण यह था कि उस समय स्त्रियों को दी जाने वाली शास्त्रीय शिक्षा निरर्थक सी समझी जाती थी।

---

६. यं तं इसीहि पत्तब्बं ठानं दुरभिसम्भवं।
न तं द्वङ्गुलपञ्ञाय सक्का पप्पोतुमित्थिया॥

—संयुत्त० १।१२९

७. देखिए—वृत्ति-जीविनी, उद्ध० १, २

८. देखिए—पृ० ३३–३५
तुलना कीजिए—

...the only education a girl received was one which fitted her to fulnl her duties in the house-hold of her husband....

—Indian Education in Ancient and Later Times, p. 75

आगम-कालीन स्थिति :

बौद्ध एवं जैन दोनों ही युगों में शिक्षा का प्रधान उद्देश्य आजीविकोपार्जन करना मात्र था। अतः पुत्र को शिक्षा देने के हेतु उसके माता-पिता सदैव सतर्क रहते थे। इन शिक्षाओं में शिल्प एवं कला की शिक्षा प्रमुख थी। फलतः पुत्र को उक्त शिक्षा प्राप्त करने के हेतु कलाचार्य के पास भेजा जाता था।[९] पुत्री के लिए इस प्रकार की शिक्षा इसलिये आवश्यक नहीं समझी जाती थी क्योंकि उसे जीविकोपार्जन करने की आवश्यकता ही नहीं रहती थी। जीविकोपार्जन को छोड़कर अन्य किसी प्रयोजन से शिक्षा नहीं दी जाती थी। इस बात की पुष्टि उपालि के माता-पिता के विचारों से होती है। उन्होंने विचारा कि यदि उपालि लेखा सीखे तो उसकी अंगुलियाँ दुखेंगी, यदि गणना सीखे तो जाँघ दुखेगी तथा यदि रूप सीखे तो आखें दुखेंगी। अतः क्यों न उपालि भिक्षु बन जाय जिससे उनके मरने के बाद भी उनका पुत्र सुख से जीवन यापन कर सके।[१०]

शास्त्रीय शिक्षा एवं भिक्षुणी-संघ :

जहाँ तक शास्त्रीय-शिक्षा का प्रश्न था, वह केवल प्रव्रजित स्त्री-पुरुषों तक ही सीमित थी। इस प्रकार की शिक्षा के प्रति नर-नारी की अनुरक्ति तभी देखी जाती थी जब उन्हें सांसारिक-जीवन दुःखमय प्रतीत होने लगता था। अतः ऐसी शिक्षा का द्वार संसार से विरक्त पुरुष एवं स्त्री दोनों के लिए समानरूप से खुला था। नारी भिक्षुणी-संघ में प्रवेश लेकर उक्त शास्त्रीय-शिक्षा को प्राप्त करती थी।

चूँकि नारी की शास्त्रीय-शिक्षा का प्रधान साधन भिक्षुणी-संघ था, अतः यह कहा जाता है कि बौद्ध एवं जैन-युगीन भिक्षुणी-संघ

९. देखिए—पुत्री, उद्ध० ९०

१०. अथ खो उपालिस्स मातापितुन्नं एतदहासि—"सचे उपालि लेखं सिक्खिस्सति, अङ्गुलियो दुक्खा भविस्सन्ति...."

—महाव० पृ० ८०–८१

से नारी-शिक्षा को प्रश्रय मिला था।[११] किन्तु जब उक्त कथन को गम्भीरता से सोचते हैं तो ज्ञात होता है कि भिक्षुणी-संघ में शास्त्रीय शिक्षा देकर केवल अनगारावस्था में स्थित नारी को अनुशासन में रखने का उचित प्रबन्ध किया जाता था। उन्हें नियमित शास्त्रीय-शिक्षा देने का एक यह भी उद्देश्य था कि वे सांसारिक-भोगों की ओर आकृष्ट न हों तथा संघ की मान-मर्यादा का उल्लंघन न करें। इसके अतिरिक्त नारी-सामान्य में शिक्षा-प्रसार के हेतु भिक्षुणी-संघ ने कोई विशेष कार्य नहीं किया। भिक्षुणी-संघ में प्रवेश की अनिच्छुक नारी को वह नियमित शास्त्रीय-शिक्षा नहीं दी जाती थी।[१२] आशय यह कि भिक्षुणी-संघ में केवल उन नारियों को ही शिक्षा उपलब्ध होती थी जो गृहत्याग कर देती थीं या सांसारिक-जीवन से विरक्त होती थीं। अतः भिक्षुणी-संघ उस समय आधुनिक अर्थ में शिक्षा-संस्थान के रूप में नहीं था।

शिक्षा का आंशिक प्रचलन एवं उसके साधन :

यद्यपि बौद्ध एवं जैन-युगीन सामाजिक वातावरण नारी-शिक्षा के विरुद्ध था, किन्तु यत्र-तत्र उस वातावरण के अपवाद भी दृष्टिगोचर होते थे। अजातशत्रु की माँ को वैदेही केवल इसलिये कहा जाता था कि वह विदुषी थी।[१३] इसी प्रकार नन्दुत्तरा ने शिल्प एवं विज्ञान की शिक्षा

---

११. Great Women of India, p. 106–107

१२. It seems hardly safe, therefore, to conjecture that even when Buddhism was at its zenith in India it did very much for the education of women.

—Indian Education in Ancient and Later Times, p. 79

१३. विदन्ति एतेना'ति वेदो, ञाणस्स एतं अधिवचनं। वेदेन ईहति घटति वायमति इति वेदेहि....

—सुम० १.१४७

प्राप्त की थी।[१४] ओघनिर्युक्ति से ज्ञात होता है कि एक वैद्य मरने के पूर्व अपनी विद्या अपनी पुत्री को सिखा गया था।[१५] कुमारी के लिए पण्डिता, व्यक्ता, मेधाविनी जैसे विशेषणों के प्रयोग से भी तत्कालीन नारी-शिक्षा का स्पष्ट अनुमान किया जा सकता है।[१६]

इस प्रकार की शिक्षा के लिए क्या साधन थे, इसका स्पष्ट उल्लेख प्राप्त नहीं होता है किन्तु अनुमान किया जा सकता है कि नारियाँ अपने परिवार में संरक्षक-वर्ग से ही शिक्षा पाती थीं, क्योंकि जिस प्रकार पुत्र को कलाचार्य के पास भेजने के उल्लेख मिलते हैं, उस प्रकार पुत्री को भेजने के उल्लेख उपलब्ध नहीं होते हैं। हाँ, यत्र-तत्र गुरुकुलों में शिष्य-शिष्याओं के उल्लेख मिलते हैं जिनसे यह कहा जा सकता है कि बौद्ध-युग में वैदिक-कालीन शिक्षा-पद्धति के अवशेष भी अपवाद रूप में विद्यमान थे।[१७]

प्रसाधन

बौद्ध एवं जैन-युगीन नारी के जीवन में प्रसाधन का महत्त्वपूर्ण स्थान था। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि प्रसाधन तत्कालीन नारी के जीवन का अविभाज्य अंग था। स्त्री अपने संरक्षक-वर्ग से सदैव यह इच्छा करती थी कि उसे संरक्षक-वर्ग अलंकार प्रदान करे। यही कारण था कि बुद्ध ने अलंकार प्रदान कर पत्नी को सम्मानित करना पति का कर्त्तव्य बताया था।[१८]

---

१४. ...एकच्चानं विज्जट्ठानानि सिप्पायतनानि च उग्गहेत्वा...

—परमत्थदीपिनी (थेरी० की अट्ठकथा), पृ० ८७

१५. ओघनिर्युक्ति, गाथा ६२२–६२३

१६. अमुकस्स कुलस्स कुमारिका...पण्डिता व्यत्ता मेधाविनी....

—पारा० पृ० १९५

१७. तत्थ ये ते माणवका वा माणविका वा भवन्तं गोतमं अभिवादेस्सन्ति....

—दीघ० १।९६; संयुत्त० ३।१११

१८. देखिए—वैवाहिक-जीवन, उद्ध० ५३

प्रसाधन के साधन :

आगम-कालीन नारी-समाज के प्रसाधन में अलंकारों का ही प्रयोग पर्याप्त नहीं था अपितु अलंकारों के साथ वस्त्र, विलेपन एवं माल्य आभरणों का भी प्रयोग आवश्यक था। चूंकि नारी का सम्यक् प्रकार से आवृत, सुदृढ़, सुगन्धित एवं गोरा शरीर पुरुष-वर्ग को आकृष्ट करता था, अतः नारी वस्त्र, विलेपन, माल्य एवं अलंकार—आभरणों से अपने शरीर को प्रसाधित करती थी। वस्तुतः प्रसाधन अंगी था तथा उक्त चारों प्रकार के आभरण उसके चार अंग थे। इन चारों अंगों का प्रसाधन में समान महत्त्व था। यही कारण है कि आगमों में जहाँ कहीं भी नारी के प्रसाधन या प्रसाधित रूप का उल्लेख प्राप्त होता है, वहाँ प्रसाधन के इन चारों अंगों की चर्चा अनिवार्य रूप से देखी जाती है।[१९] इससे यह कहा जा सकता है कि तत्कालीन नारी के शारीरिक प्रसाधन में पूर्णता तभी आती थी जब वह उक्त चारों साधनों का प्रयोग करती थी। अतः बौद्ध एवं जैन दोनों ही युगों की नारियाँ प्रसाधन में जिन पदार्थों का प्रयोग करती थीं, उन्हें मुख्यरूप से चार भागों में विभक्त किया जा सकता है :—

१. वस्त्राभरण, २. विलेपनाभरण, ३. माल्याभरण एवं ४. अलंकाराभरण।

वस्त्राभरण :

बौद्ध-युग में काशी के बने वस्त्र प्रसाधन के साधन की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ माने जाते थे। पुरुष एवं नारी दोनों ही प्रसाधन के हेतु काशी के महत्त्व को स्वीकार करते थे। जब उपक आजीवक अपनी पत्नी चापा से रुष्ट होकर संन्यासी बनने के लिए जाने लगा, तो चापा ने

---

१९. (क) अलङ्कृता सुवसना मालिनी चन्दनोक्खिता।
—थेर० ४।१।२६७, ७।१।४५९; थेरी० ६।४।१४५; जातक ४।३४५।१७६ इत्यादि

(ख) नाया० १।१।१३; भगवतीसूत्र, ९।३३ इत्यादि

कहा कि काशी के उत्तम वस्त्रों को धारण करनेवाली मुझे छोड़कर कहाँ जा रहे हो।[२०] इसी प्रकार शुभा भिक्षुणी पर आसक्त होकर धूर्त्त ने उसे विचलित करने का प्रयास करते हुए कहा था कि इस प्रव्रजित रूप को त्यागकर मेरे साथ गृहावास करो तथा काशी के सुकुमाल वस्त्रों को धारण करो इत्यादि।[२१] उक्त दोनों उल्लेखों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उस समय काशी के वस्त्रों को धारण कर न केवल स्त्री पुरुष को अपनी ओर आकृष्ट करने में पूर्ण विश्वास रखती थी, अपितु पुरुष-वर्ग भी काशी के वस्त्रों का लालच देकर नारी-वर्ग को फुसलाने का प्रयत्न करता था।

प्रसाधन की दृष्टि से नारी के वस्त्रों में साड़ी का प्रमुख स्थान था।[२२] इसका प्रयोग सामाजिक एवं असामाजिक सभी नारियाँ करती थीं। इसके स्थान पर अन्य किसी वस्त्रविशेष के प्रयोग की जानकारी प्राप्त नहीं होती है। अतः कहा जा सकता है कि इसके प्रतिद्वन्दी वस्त्र (सलवार आदि) का प्रचलन नहीं था।

रंग की दृष्टि से नीले रंग की साड़ियों को स्त्रियाँ अधिक पसन्द करती थीं।[२३] यह रंग स्वच्छता का प्रतीक माना जाता था। यही कारण था कि इसकी उपमा आकाश के समान स्वच्छ नील-रंग से

---

२०. हरिचन्दनलित्तङ्गि कासिकुत्तमधारिनि।
तं मं रूपवतिं सन्तिं कस्स ओहाय गच्छसि॥

—थेरी० १३।३।२९९

२१. कासिकसुखुमानि धारय अभिरोपेहि च मालवण्णकं।

—वही, १४।१।३७९

२२. महाव० पृ० ३०९; चुल्ल० पृ० २७४

२३. (क) भिक्षुणियों द्वारा उपयोग में लाये गये चीवरों के कथित रंगों में सर्वप्रथम नील रंग का कथन किया गया है।

—उद्ध० २५

(ख) आणीलं च वत्थयं रयावेहि

—सूय० १।४।२।९

दी जाती थी।[२४] अन्य रंगों में पीला, लाल, हरा मंजीठा आदि रंग प्रमुख थे। कभी-कभी गहरे रंग से रंगी साड़ियों को भी प्रयोग में लाया जाता था। इनके अतिरिक्त काले रंग की भी साड़ियाँ प्रयुक्त होती थीं। यदा-कदा हल्दी से भी साड़ियों को रंग लिया जाता था। साड़ियाँ पहिनते समय स्त्रियाँ इस बात का ध्यान रखती थीं कि उनकी साड़ी एवं उसके साथ पहिने गये अन्य वस्त्रों के रंगों का उचित मेल हो अर्थात् नारियाँ साड़ी ऐसे रंग की पहनती थीं जो रंग साड़ी के साथ पहने गये अन्य वस्त्र के रंग से मिलता-जुलता होता था। साधारण-तया स्त्रियाँ एक ही रंग के समस्त वस्त्रों को पहना करती थीं।[२५]

स्त्रियाँ किनारीदार साड़ियाँ ही प्रमोग में अधिक लाती थीं। किना-रियों की आकृति भिन्न-भिन्न एवं आकर्षक होती थीं। इनमें फूलदार एवं फलदार किनारियों का प्रमुख स्थान था। कभी-कभी चौड़ी किनारियों को भी पसन्द किया जाता था।[२६] कुछ स्रोतों से सर्प के फन की आकृतिवाली किनारियों के प्रचलन का भी संकेत मिलता है।[२७]

साड़ी के अतिरिक्त अन्य वस्त्रों में कंचुक नामक वस्त्र का उल्लेख मिलता है।[२८] इसे सीने को ढकने के उपयोग में लाया जाता था।

---

२४. ....आगासफलिहसरिसप्पभं अंसुयं....

—नाया० १।१।१३

२५. भिक्खुनियो सब्बनीलकानि चीवरानि धारेन्ति, सब्बपीतकानि....सब्बलोहित-कानि....सब्बमञ्जिट्ठिकानि सब्बकण्हानि....सब्बमहारङ्गरत्तानि...सब्बमहा-नामरत्तानि...

—चुल्ल० पृ० ३८७

२६. ....दीघदसानि चीवरानि धारेन्ति पुप्फदसानि...फलदसानि....

—वही

२७. सिंहली तथा रोमन लिपि के चुल्लवग्ग में फलदसानि की जगह फणदसानि पद उपलब्ध होता है, जिससे सर्प के फन की आकृतिवाली किनारियों का बोध होता है।

—चुल्ल० पृ० ३८७ टि० १५

२८. (क) कञ्चुकं धारेन्ति तिरीटकं धारेन्ति....

—वही, पृ० ३८७

(ख) तुलना कीजिए—स्था० ५।३

तिरीटवृक्ष की छाल से बने कपड़ों को भी धारण किया जाता था। इस प्रकार के छालनिर्मित वस्त्रों का प्रयोग किस रूप में किया जाता था, इसका संकेत बौद्धागमों में प्राप्त नहीं होता है किन्तु जैनागमों से ज्ञात होता है कि छाल के बने वस्त्र को साड़ी के ऊपर ओढ़ने के काम में लाया जाता था।[२९]

साड़ी के ऊपर कमरबंध बाँधने का भी प्रचलन था। उसे इस ढंग से बाँधा जाता था कि उसका अधिकांश भाग पोंछ के रूप में आगे लटकता था।[३०] कमरबन्धों के साथ पटकों के प्रयोग का भी प्रचलन था। ये पटके मुख्य-रूप से बांस के रेशे या चमड़े के कपड़े के बनाये जाते थे। दुस्स (वह कपड़ा जिससे गृहस्थ नारी-वर्गों के कंचुक, साड़ी आदि वस्त्र बनाये जाते थे) तथा चोल (वह कपड़ा जिससे भिक्षुणियों के चीवर बनाये जाते थे)[३१] की पट्टी का भी पटकों के रूप में उपयोग किया जाता था। दुस्स एवं चोल वस्त्रों को गूँथ कर या बुनकर भी पटके बनाने का प्रचलन था। यदा-कदा सूत्र (धागा) को गूंथ कर या बुनकर भी पटके बना लिये जाते थे।[३२] इन पटकों की आकृति सामा-

---

२९. (क) ····दुगुल्लसुकुमालउत्तरिज्जाओ····

—नाया० १।१।१४

(ख) दुकूल····वि० दुकूलवृक्ष की छाल से बना वस्त्र आदि; उत्तरिज्ज···· चादर, दुपट्टा।

—पाइअ० पृ० ४६६–४६७ तथा १५५

३०. दीघानि कायबन्धनानि धारेन्ति, तेहेव फासुका नामेन्ति···

—चुल्ल० पृ० ३८६

३१. ····dussa as the material out of which householders' cloths are made and cola as that out of which monks' robes are made.

—B.D.5. 368 f.n. 4.

३२. विलीवेन पट्टेन फासुका नामेन्ति····चम्मपट्टेन····दुस्सपट्टेन····दुस्सवेणिया···· दुस्सवट्टिया····चोळपट्टेन····चोळवेणिला ···चोळवट्टिया····सुत्तवेणिया····सुत्त-वट्टिया फासुका नामेन्ति।

—चुल्ल० पृ० ३८६

न्यतया झालर के समान होती थी किन्तु गूँथकर बनाये गये पटके वेणी के आकार के होते थे।

जैन-आगमों में प्राप्त वस्त्राभरण के वर्णन से ज्ञात होता है कि बौद्ध-युग से जैन-युग में वस्त्रसम्बन्धी मान्यताएँ बदल चुकी थीं। बौद्ध-युग में काशी के बने हुए सुकुमाल वस्त्रों की काफी प्रशंसा होती थी तथा प्रसाधन के लिए उनका प्रयोग अनिवार्य था, किन्तु जैनागमों में काशी के वस्त्रों का उल्लेख तक नहीं मिलता है। इसी प्रकार बौद्ध-आगमों में कमरबन्धों का जो विस्तृत वर्णन मिलता है वह जैनागमों में उपलब्ध नहीं होता है। अतः कहा जा सकता है कि जैन-युग में कमर-बन्ध एवं पटकों का भी प्रसाधन में वह महत्त्व नहीं रहा था जो बौद्ध-युग में था।

जैन-युग में चीनांशुक नामक वस्त्र प्रसाधन के लिए उत्तम माना जाता था।[३३] चीनांशुक शब्द के दो अर्थ हो सकते हैं, प्रथम तो यह कि कीट विशेष से तैयार किया गया वस्त्र तथा द्वितीय यह कि चीन देश से आया हुआ वस्त्र।[३४] चीनांशुक पद के उक्त दोनों अर्थों में से कोई भी अर्थ हो सकता है। प्रथम अर्थ इसलिए सम्भव है, कारण, बौद्ध-युग में भी सुकुमाल (रेशमी) वस्त्रों को प्रसाधन के लिये उपयुक्त माना जाता था तथा दूसरा अर्थ इसलिए असम्भव नहीं है क्योंकि जैनागमों के संकलन-काल तक भारतवासी चीन देश के सम्पर्क में आ चुके थे। इसका प्रबल प्रमाण नायाधम्मकहाओ में आया हुआ वह पद है जिसका अर्थ है—'चीनियों के समान चिपटी नाक वाला'।[३५] पुनश्च ईसा की चतुर्थ

---

३३. चीणंसुयवत्थपरिहिया....

—आचा० २।५।१ सू० ३६८; भगवतीसूत्र, ९।३३

३४. चीणंसुय (चीनांशुक)—१. कीट-विशेष, जिसके तन्तुओं से वस्त्र बनता है।
२. चीन देश का वस्त्र-विशेष।

—पाइअ० पृ० ३२८

३५. ....चीणचिमिढनासियं....

—नाया० १।८।७४

सदी तक चीन का भारत के साथ व्यापारिक सम्पर्क भी स्थापित हो चुका था।[३६] इस वस्त्र के अन्य विशेषणों से ज्ञात होता है कि यह अत्यन्त सूक्ष्म रेशमी-वस्त्र होता था।

अंशुक भी तत्कालीन नारी-वर्ग के प्रसाधन के लिए उत्तम वस्त्र माना जाता था। इस वस्त्र की बिनाई अत्यन्त महीन होती थी तथा सूत हल्का होता था। यही कारण था कि यह वस्त्र नासिका की हवा से भी हिल जाता था। इस वस्त्र की दूसरी विशेषता यह थी कि इस वस्त्र में से अप्रच्छादनीय अंग दिखते थे। अतः यह वस्त्र नेत्रों को आकृष्ट कर लेता था। दूसरे शब्दों में यह चक्षुहर था।[३७] यह उत्तम वर्ण एवं स्पर्श वाला होता था। किस रंग का वस्त्र अधिक उत्तम माना जाता था, यह स्पष्ट कहना तो कठिन है किन्तु जैसा कि अन्यत्रकहा जा चुका है, नील-रंग वाला अंशुक अधिक श्रेष्ठ माना जाता था। स्पर्श की कोमलता की दृष्टि से इस वस्त्र की उपमा घोड़े की लार से दी जाती थी।[३८] आकाश या स्फटिक के समान स्वच्छ इस वस्त्र की किनारी स्वच्छ स्वर्ण से बनाई जाती थी।[३९] इस प्रकार के उत्तम वस्त्र का तत्कालीन उत्तम घरानों की स्त्रियाँ ही उपयोग करती थीं जिससे उसके अधिक मूल्य का अनुमान किया जा सकता है।

---

३६. सार्थवाह, पृ० ६८, ८७, ९७

३७. (क) ····नासानीसासवायवोज्झं····

—नाया० १।१।१३

(ख) ···चक्खुहरं वण्णफरिससंजुत्तं····

—वही

(ग) प्रच्छादनीयाङ्गदर्शनाच्चक्षुर्हरति धरति वा···

—ज्ञाता० वि०, पृ० २९

३८. ···हयलालापेलवाइरेयं····

—नाया० १।१।१३

३९. ···धवलकणयखचियंतकम्मं···अंसुयं····

—वही

साड़ी के ऊपर ओढ़ने के लिए चादर का भी प्रयोग किया जाता था जो दुकूल वृक्ष की छाल से बनता था।[४०] इसे चादर भी कह सकते हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि प्रसाधन की दृष्टि से बौद्ध-युग में तिरीट वृक्ष की छाल का ओढ़ना बनाया जाता था जब कि जैन-युग में दुकूल वृक्ष की छाल का ओढ़ना अधिक प्रचलित हो गया था।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि आगम-कालीन नारी-वर्ग वस्त्र को प्रसाधन का एक अनिवार्य साधन मानता था तथा प्रसाधन में नारियाँ रेशमी-वस्त्र या उसके समान चिकने एवं सूक्ष्म वस्त्रों को ही अधिक अपनाती थीं।

विलेपनाभरण :

शरीर को सुदृढ़ एवं सुगन्धित बनाने के लिये नारियाँ विभिन्न द्रव्यों का लेप करती थीं। चूँकि इस प्रकार के लेपों से शरीर की आभा निखरती थी, इसलिए विलेपनों को भी प्रसाधन का आवश्यक अंग माना जाता था। जिस शरीर को वस्त्र, माला एवं अलंकारों के आभरणों से सजाया जाता था, उसे आभरणों के प्रयोग के पूर्व सुगठित, सुगन्धित एवं सौम्य बनाना आवश्यक था। अतएव विलेपनाभरण सभी प्रकार के आभरणों का मूल था।

यद्यपि विलेपनों में चन्दन का प्रमुख स्थान था क्योंकि प्रसाधन-सम्बन्धी उल्लेखों में चन्दन से शरीर को विलिप्त एवं सुवासित करने की ही चर्चा उपलब्ध होती है किन्तु चन्दन के लेप के पूर्व शरीर को अन्य लेपों से स्वच्छ एवं सुवासित किया जाता था। इनका प्रयोग स्नान के पूर्व एवं स्नान के समय किया जाता था। सर्वप्रथम नारियाँ तेल, घी, मक्खन, चर्बी आदि से अपने शरीर की मालिश करती थीं। तत्पश्चात् सुगन्धित द्रव्यों (लोध्रचूर्ण, लोध्रपुष्प आदि) से शरीर को सुवासित करती थीं।[४१] तदनन्तर स्नान किया जाता था। स्नान के समय भी

---

४०. देखिए—उद्ध० २९

४१. (क) वरमेतं सप्पि दासानं वा कम्मकरानं वा पादब्भञ्जनं····

—महाव० पृ० २८७

शरीर को सुगन्धित बनाने के हेतु चूर्ण एवं सुगन्धित मिट्टी का प्रयोग किया जाता था।[४२] इस प्रकार स्नान समाप्त होने तक शरीर को हर सम्भव उपायों से स्वच्छ, चुस्त एवं सुगन्धित कर लिया जाता था।

स्नानोपरान्त शरीर पर चन्दन का लेप किया जाता था। चन्दनों में हरि (पीत)-चन्दन, रक्त-चन्दन एवं काशी-चन्दन विख्यात थे।[४३] प्रसाधन की दृष्टि से हरि-चन्दन को ही उत्तम माना जाता था। कारण, इससे शरीर की सुगन्धि के साथ सुन्दरता भी बढ़ जाती थी। चापा ने उपक आजीवक से कहा था कि हरि-चन्दन से लिप्त मुझे छोड़कर किस लिए जा रहे हो। जैनागमों में नारी के प्रसाधन के प्रसंग में 'उत्तम चन्दन से चर्चित शरीर' विशेषण उपलब्ध होता है। इसके अतिरिक्त जैन-युग में स्नानोपरान्त शरीर को उत्तम धूप से धूपित भी किया जाता था।[४४]

तत्कालीन नारी-वर्ग लेप के अतिरिक्त शारीरिक-सौन्दर्य की वृद्धि के हेतु अन्य अनेक उपकरणों का भी प्रयोग करता था। इन सभी को विलेपनाभरण के प्रसंग में कह देना इसलिए आवश्यक है क्योंकि

(ख) गाहावई वा कम्मकरीओ वा अन्नमन्नस्स गायं तिल्लेण वा नवणीएण वा घएण वा वसाए वा अब्भंगेति····

—आचा० २।२।३ सू० ३१७–३१८

(ग) लोद्धं च लोद्धकुसुमं च····

—सूय० १।४।२।७

४२. (क) भिक्खुनियो चुण्णेन नहायन्ति····सेय्यथा गिहिनी···

—चुल्ल० पृ० ४०१

(ख) भिक्खुनियो वासितकाय मत्तिकाय नहायन्ति····सेय्यथापि गिहिनी···

—वही

४३. (क) P.E.D., p. 262

(ख) देखिए—उद्ध० २०

(ग) वरचंदणचच्चिया···

—दशा० ३९५

४४. ···कालागरुपवरधूवधूवियाओ····

—नाया० १।१।१३

विलेपनों की भाँति इन उपकरणों को भी शरीर में लगाया जाता था। चन्दनादि में शरीर को मुख्य-रूप से सुगन्धित करने की क्षमता होती थी जब कि अन्य उपकरणों में शरीर के सौन्दर्य की वृद्धि करने की।

मर्दन एवं लेप के अनन्तर चेहरे को मैनसिल लगाकर रंजित किया जाता था। ओठों पर लालिमा लाने के लिए नन्दी-चूर्ण का प्रयोग किया जाता था।[४५] आँखों में अञ्जन लगाने का बड़ा प्रचार था।[४६] अञ्जन को आँखों में इस प्रकार आकर्षक ढंग से लगाया जाता था कि नेत्रों के किनारे पर अञ्जन की बारीक रेखा अंकित हो जाती थी।[४७] अञ्जन रखने की अञ्जनी का भी अनेक स्थलों पर उल्लेख मिलता है। चूंकि अञ्जनी अत्यधिक सुन्दर होती थी अतः उससे नारी के प्रसाधित-रूप की उपमा दी जाती थी।[४८] अञ्जन लगाने के लिए विशेष प्रकार की

---

४५. (क) मुखं आलिम्पन्ति, मुखं उम्मद्देन्ति मुखं चुण्णेन्ति मनोसिलिकाय मुखं लञ्छेन्ति।

—चुल्ल० पृ० ३८६–३८७

(ख) ····मुखं चुण्णकमक्खितं।

—थेर० १६।४।७७१

(ग) नन्दी चुण्णगाइं पाहराहि···

—सूय० १।४।२।१७

४६. (क) नेत्ता अञ्जनमक्खिता···

—थेर० १६।४।७७२

(ख) अदु अञ्जणि अलंकारं···

—सूय० १।४।२।७

४७. (क)···अवङ्गं करोन्ति।

—चुल्ल० पृ० ३८७

(ख) ···made (ointment marks) at the corners of their eyes,····

—B.D.5. 369

४८. अञ्जनीव नवा चित्ता पूतिकायो अलंकतो।

—थेर० १६।४।७७३

सलाई का प्रयोग किया जाता था जिसे स्त्रियाँ अवश्य रखती थीं।[४९]

स्त्रियाँ कपोल पर विशेष चिह्न धारण करती थीं। ऐसे चिह्नों को विशेषक कहा जाता था। इनका प्रयोग सुन्दरता बढ़ाने की दृष्टि से किया जाता था। चुल्लवग्ग में 'विसेसकं करोन्ति' पद आया है जिसका अर्थ अट्ठकथा में इस प्रकार किया गया है—"गण्डप्पदेसे विचित्तसण्ठानं विसेसकं करोन्ति" अर्थात् कपोलों पर स्त्रियाँ विशेष रचना वाला चिह्न धारण करती थीं। जैनागमों से ऐसे चिह्न के विषय में और अधिक जानकारी प्राप्त होती है। जैन-युग में पुरुष एवं नारी दोनों ही स्नानोपरान्त कौतुक-कर्म किया करते थे। कौतुक का अर्थ है—दृष्टि-दोषादि की रक्षा के लिए अङ्कित किया गया काजल का चिह्न विशेष। पुरुष-वर्ग तो केवल अनिष्ट-परिहार के लिए कौतुक-कर्म करता था, जब कि स्त्रियाँ उसी उद्देश्य से करने पर भी उसे कलात्मक ढंग से लगाती थीं। इस प्रकार के कृष्ण चिह्न से अंकित गौर-मुख-मण्डल की शोभा और भी अधिक बढ़ जाती थी।[५०]

उस समय स्त्रियाँ हथेली के ऊपरी भाग पर मयूर-पंख आदि की आकृतियाँ बनवाती थीं। वे इस प्रकार की आकृतियाँ हाथ के ऊर्ध्व भाग, पैर के पृष्ठ भाग एवं जांघ के ऊपर भी अंकित कराती थीं।[५१]

---

४९. तिलगकरणिमञ्जणसलागं घिंसु....

—सूय० १।४।२।१०

५०. (क) चुल्ल० पृ० ३८७, वि० अ० १२९३

(ख) कोउग, कोउय....दृष्टि-ददोषादि से रक्षा के लिए किया गया काजल का तिलक, रक्षा-बन्धनादि प्रयोग....

—पाइअ० पृ० २६१

५१. हत्थं कोट्टापेन्ति हत्थकोच्छं कोट्टापेन्ति, पादं कोट्टापेन्ति...

—चुल्ल० पृ० ३८६

पैरों में लाक्षा-रस का प्रयोग भी किया जाता था।[५२] इससे मिलती-जुलती प्रथा आजकल भी है। कारण, आज भी स्त्रियाँ पैरों में मेंहदी या माहुर लगाती हैं।

माल्याभरण :

माला का भी प्रसाधन में महत्त्वपूर्ण योगदान था। प्रसाधन के अन्य उपकरणों से तो केवल एक ही प्रयोजन सिद्ध होता था किन्तु माला से दो प्रयोजन पूर्ण होते थे। दूसरे शब्दों में अन्य उपकरणों से शरीर की आन्तरिक या ऊपरी शोभा बढ़ती थी किन्तु माला से एक ओर शरीर सुवासित होता था तो दूसरी ओर सुशोभित। अतः नारियों के जगत में प्रसाधन की दृष्टि से माल्याभरण का काफी प्रचार था।

मालाओं का उपयोग सिर तथा सीने को विभूषित करने में किया जाता था। माला के विभिन्न उपयोगों को बताने के पूर्व उसके भेदों को बताना उचित होगा।

पाराजिक के अनुसार मालाएँ मुख्य-रूप से निम्न भेदों में विभक्त थीं—

(१) एकतोवण्टिक — वह माला जिसके एक ओर डंठल होते थे।[५३]

(२) उभतोवण्टिक—वह माला जिसके दोनों ओर डंठल होते थे।

(३) मञ्जरीज—फूलों का समूह जिसे गुलदस्ता कह सकते हैं।[५४]

(४) विधूतिक—सिन्दूवार के फूलों से बनाई गई माला को विधूतिक कहते थे। यह सुई या कड़ी लकड़ी के सहारे

---

५२. अलत्तककता पादा····

—थेर० १६।४।७७१

५३. तत्थ एकतो वण्टिकं ति पुप्फानं माला।

—सम० भाग २, पृ० ६२०

५४. मञ्जरिकं ति आदीसु पन मञ्जरी विय कता पुप्फविकतिमञ्जरिका ति वुच्चति।

—वही

बनाई जाती थी। इसका प्रयोग सिर को विभूषित करने में किया जाता था।[५५]

(५) वटंसक—यह माला ललाट पर पहिनी जाती थी।[५६]

(६) आवेष—कानों में पहिनी जाने वाली माला।[५७]

(७) उरच्छद—गले में पहिनकर सीने पर धारण की जाने वाली माला को उरच्छद कहते थे।[५८]

इन मालाओं के भेदों से यह जानकारी मिल जाती है कि माल्या-भरण को सिर तथा उरस्थल पर पहना जाता था। सिर में पहिनने के अनेक प्रकार थे। माला को चोटी में भी मिलाकर पहिना जाता था। इस प्रकार की चोटी को मालामिश्रा-वेणी कहा जाता था।[५९] मालामिश्रा-वेणी आजकल भी कुछ स्त्रियाँ रखती हैं। केशपाशों को भी पुष्पाभरणों से गूंथा जाता था। अम्बपाली अपने अतीत के अनुभव सुनाती हुई कहती है कि 'पुष्पाभरणों से गुथा हुआ मेरा केशपाश' रहता था।[६०] माला के कारण स्त्री को मालिनी कहा जाता था। इससे स्पष्ट है कि माल्याभरण ही प्रसाधन का एक ऐसा अंग था जिसे सभी वर्ग की स्त्रियाँ अपनाया करती थीं। इसका प्रधान कारण यह था कि माल्याभरण अन्य आभरणों की तुलना में सस्ता एवं स्त्री-सामान्य को

५५. विधूतिका ति सूचिया वा सलाकाय वा सिन्दूवारपुप्फदामं विज्झित्वा कता।

—वही

५६. वटंसको ति वतंसको।

—वही

५७. आवेळा ति कण्णिका।

—वही

५८. उरच्छदो ति हारसदिसं उरे ठपनकपुप्फदामं।

—सम० भाग २, पृ० ६२०

५९. वेणी नाम····मालामिस्सा वा····

—पारा० पृ० १७२

६०. पुप्फपूरो मम उत्तमङ्गजो····

—थेर० १३।१।२५३

प्राप्य था। अतः यह आभरण तत्कालीन प्रसाधन में आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य-सा हो गया था। शुभा को साधना से भंग कर घर बसाने का अनुरोध करनेवाला व्यक्ति अन्य प्रलोभनों के साथ एक यह भी प्रलोभन देता है कि तू गृहावास में सुगन्धित पुष्पाभरणों को धारण करेगी।

जैनागमों में भी प्रसाधन के साथ माल्याभरण का गहरा सम्बन्ध बताया गया है। प्रत्येक प्रसाधित-नारी माल्याभरण को अवश्य धारण करती थी। इन मालाओं को सिर तथा सीने पर धारण किया जाता था। देवानन्दा ब्राह्मणी ने धार्मिक-स्थल पर जाने के पूर्व अन्य प्रसाधन के साथ अपने सिर के बालों को माला से वेष्टित किया था।[६१] चेलना रानी ने महावीर के दर्शन के लिए जाते समय जो माला धारण की थी वह गले में पहिनी गयी थी तथा सीने पर लटक रही थी।[६२] धारिणी देवी ने सभी ऋतुओं में सुरक्षित फूलों से बनी माला से सिर को शोभित किया था।[६३] संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि इन माल्याभरणों का बौद्ध तथा जैन दोनों ही युगों की नारी के लिए विशेष महत्त्व था।

अलंकाराभरण :

बौद्धागमों में अलंकारों के विषय में विशेष जानकारी प्राप्त नहीं होती है। अधिकांश स्थलों पर 'अलंकृता' पद ही प्रयोग में लाया गया है। कहीं-कहीं सोने, मणियों एवं मोतियों के आभरणों का संकेत मिलता है।[६४] अम्बपाली गणिका ने अपने उद्गार में कुछ अलंकारों के नाम कहकर स्वर्णालंकार पद जोड़ दिया था।[६५] अतः व्यापक-रूप से

---

६१. भगवतीसूत्र, ९।३३

६२. दशा० पृ० ३९५

६३. सव्वोउयसुरभिकुसुमपवरमल्लसोहियसिराओ···· —नाया० १।१।१३

६४. देखिए—उद्ध० ६६–७०

६५. थेरी० १२।१।२६४····

बौद्ध-युगीन अलंकारों के विषय में नहीं कहा जाकर इतना ही कहा जा सकता है कि उस समय स्वर्णनिर्मित अलंकारों का बाहुल्य था। दूसरे शब्दोंमें उस समय शरीर के अधोभाग से लेकर ऊर्ध्वभाग तक स्वर्णालंकारों का उपयोग किया जा सकता था।

यत्र-तत्र जो अलंकारों के उल्लेख मिलते हैं उनसे ज्ञात होता है कि सिर पर केशपाशों को सजाने के लिए सोने के अलंकारों (क्लिप आदि) का प्रयोग किया जाता था। चोटी को गूँथते समय उसे सुवर्ण, हिरण्य या मोती से सजाया जाता था।[६६] कानों में कुण्डल होता था। इसके साथ मणि शब्द का प्रयोग मिलता है। अतः कहा जा सकता है कि कुण्डल में मणि भी जड़ा रहता था।[६७] हाथों में कङ्गन पहने जाते थे तथा उन्हें कलात्मक ढंग से बनाया जाता था।[६८] अपदान में वर्णित भद्रा कुण्डलकेशी के पति ने उसके जिन गहनों को छीना था उनमें केयूर, मुक्ता तथा वेडूर्य आदि प्रमुख थे।[६९] हार का उल्लेख प्रथम चार निकायों में नहीं आता है। जातक में मुक्ताहार का उल्लेख आया है। हाथों में अँगूठी, कटि-प्रदेश में मेखला तथा पैरों में नूपुर पहने जाते थे।[७०]

---

६६. वेणी नाम सुद्धकेसा वा सुत्तमिस्सा वा मालामिस्सा वा हिरञ्ञमिस्सा वा सुवण्णमिस्सा वा मणिमिस्सा वा।

—पारा० पृ० १७२

६७. हत्थी गवस्सं मणिकुण्डलं च····

—थेरी० १३।४।३२६

६८. कङ्कणं व सुकतं सुनिट्ठितं····

—वही, १३।१।२५९

६९. इदं सुवण्णकायूरं मुत्ता वेळुरिया बहू।

—जातक ८।४१९।१८; थेरीअप० ३।१।२७

७०. (क) सण्हमुद्दिकसुवण्णमण्डिता···

—थेरी० १३।१।२६४

(ख) जातरूपसुमेखले····

—जातक, २०।५३१।५,४९

(ग) सण्हनूपुरसुवण्णमण्डित।···

—थेरी० १३।१।२६८

जैनागमों में नारी के प्रसाधित रूप में अलंकारों का पर्याप्त योगदान रहता था तथा उसका वर्णन अनेक स्थलों पर आता है। वर्णन प्रायः समान है।

प्राप्त-उल्लेखों के अनुसार कानों में कुण्डल तथा गर्दन में उत्तम हेमसूत्र धारण किया जाता था। इसके साथ एकावली, तीन लड़ी का हार पहना जाता था। हाथों की अंगुलियों में मुंदरी तथा अग्रभाग में वलय (कंकण) पहने जाते थे। कटिभाग में मेखला तथा पैरों में नूपुर का प्रचलन था। मेखला के आगे मणि पद आता है जिससे कहा जा सकता है कि मेखला में लटकने वाले दाने मणियों के होते थे।[७१]

पुरुष-वर्ग के आभूषण स्त्री के आभूषणों से भिन्न रहते थे। उदाहरण-स्वरूप पुरुष ८० या ४० लड़ों का हार पहिनता था। तीनसरा हार पुरुष तथा स्त्री दोनों द्वारा उपयोग में लाया जाता था। एकावली केवल स्त्रियाँ ही धारण करती थीं। कटिभाग में स्त्रियाँ मणिमेखला धारण करती थीं तो पुरुष कटि-सूत्र। स्त्रियाँ हाथ में कंकण पहिनती थीं जबकि पुरुष कड़ा, तथा बाहु के ऊर्ध्वभाग में केयूर की भाँति स्त्रियाँ एक आभूषण पहिनती थीं जो बाहुरक्षिका नाम से कहा जाता था। पुरुष-वर्ग में पालंब नामक एक ऐसा आभूषण भी प्रचलित था जो माला की तरह सामने लटकता रहता था।[७२] यद्यपि आचारांग-सूत्र में गृहस्थ की पुत्री द्वारा पुरुष-वर्ग के समान ही अलंकारों के प्रयोग का उल्लेख मिलता है[७३] किन्तु अन्य उल्लेखों के आधार पर इसे अपवाद या प्राचीनरूप ही कह सकते हैं।

---

७१. (क) वरपायपत्तनेउरमणिमेहलाहाररइयउत्रचियकडगखुड्डयविचित्तवरवलयथंभियभुयाओ कुंडलउज्जोवियाणणाओ''''

—नाया० १।१।१३

(ख) ''''कडग-खड्डुग एगावलि-कंठसुत्तमरगवतिसरयवरवलयहेमसुत्तय''''

—दशा० पृ० ३६४–३६५

७२. तुलना कीजिए—नाया० १।१।१२,१३

७३. '''कुंडले वा गुणे वा पालंबाणि वा हारे वा अद्धहारे वा''''तरुणीयं वा कुमारिं अलंकियविभूसियं''''

—आचा० २।२।१ सू० २६३

परदा-प्रथा

आगम-कालीन नारी-जीवन के चित्रण के प्रसंग में परदा-प्रथा पर भी लिखना आवश्यक प्रतीत होता है। कारण, आधुनिक भारतीय नारी-समाज में उक्त प्रथा के आंशिक प्रचलन से जन-साधारण के लिए यह जिज्ञासा होती है कि प्राचीन भारत में परदा-प्रथा का क्या रूप था।

परदा-प्रथा का प्रारम्भ कब से हुआ—यह एक विवादास्पद विषय है। कुछ लोगों का विचार है कि भारतवर्ष में मुसलमानों के प्रभाव के साथ ही साथ परदा-प्रथा का प्रचार बढ़ा है, जब कि अन्य लोगों का कहना है कि मुसलमानों के आने के पूर्व यहाँ की नारी इस प्रथा से एकदम अपरिचित नहीं थी।[७४] अतः यहाँ आगमों से पूर्वकालीन अवस्था पर संक्षेप में विचार कर आगम-कालीन नारी-समाज में परदा-प्रथा किस अंश तक प्रचलित था—इसे प्रस्तुत किया जायगा।

वैदिक तथा उत्तर-वैदिक-कालीन स्थिति :

वैदिक-काल में परदा-प्रथा के अस्तित्व के समर्थन में उल्लेखों का अभाव है। उस समय अविवाहित युवती अपने जीवन-साथी का चयन स्वयं करती थी।[७५] विवाह के अवसर पर उपस्थित लोग कन्या को देखते थे तथा उसे आशीर्वाद देते थे।[७६] निरुक्त से ज्ञात होता है कि स्त्रियाँ न्याय कराने के लिए न्यायालय भी जाती थीं।[७७] गृह्य

---

७४. The Position of Women in Hindu Civilization, p. 166.

७५. Vedic Index, 1.474

७६. (क) सुमङ्गलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत।
सौभाग्यमस्यैदत्त्वायाऽथास्तं वि परेतन ॥

—ऋग्वेद० १०।८५।३३

(ख) तुलना कीजिए—अथर्व० २।३६।१, १४।१।२१

७७. तं तत्र यापुत्रा यापतिका सारोहति। तां तत्राक्षैराघ्नन्ति सा रिक्थं लभते।

—निरुक्त, ३।५।१

तथा धर्मसूत्रों में भी जन-साधारण के मध्य घूमने वाली नारी के परदे के विषय में कोई सूचना नहीं मिलती है।[७८] अतः यह कहा जा सकता है कि वैदिक एवं उत्तर-वैदिक-कालीन नारियों में परदा-प्रथा का प्रचलन नहीं था।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि पाणिनि द्वारा प्रयुक्त असूर्यपश्या शब्द से परदा-प्रथा से मिलती-जुलती किसी प्रथा का संकेत मिलता है।[७९] असूर्यपश्या का अर्थ है---वह नारी जो सूर्य के द्वारा भी नहीं देखी जा सकी हो अर्थात् राजा की पत्नी। इसी प्रकार रामायण एवं महाभारत दोनों ही महाकाव्यों में ऐसे अनेक उल्लेख मिलते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि उस समय जन-साधारण को विशिष्ट खानदान की नारियों द्वारा दर्शन देना उत्तम नहीं माना जाता था। रामायण में एक स्थल पर कहा गया है कि आज सड़क पर चलते हुए लोग उस सीता को देख रहे हैं जो पहले आकाशगामी जीवों द्वारा भी नहीं देखी गई थी।[८०] इसी प्रकार उसी ग्रन्थ में अन्यत्र एक स्थल पर कहा गया है कि विपत्ति के समय, युद्धों में, स्वयंवर में, यज्ञ में तथा विवाह में स्त्रियों का अदर्शन दोषकारक नहीं है।[८१] महाभारत में कहा गया है कि हमने सुना है, प्राचीन काल में लोग विवाहित स्त्रियों को सभा आदि में नहीं ले जाते थे।[८२]

---

७८. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ० ३३६

७९. ३।२।३६

८०. या न शक्या पुरा दृष्टुं भूतैराकाशगैरपि।
तामद्य सीतां पश्यन्ति राजमार्गगताः जनाः॥

—रामा० २।३३।८

८१. व्यसनेषु न कृच्छ्रेषु न युद्धेषु स्वयंवरे।
न क्रतौ न विवाहे च दर्शनं दुष्यति स्त्रियः॥

—वही, ६।११७।२७

८२. धर्म्यां स्त्रियं सभां पूर्वं न नयन्तीति नः श्रुतम्।
स नष्टः कौरवेयेषु पूर्वो धर्मः सनातनः॥

—महा० २।६९।९

उपर्युक्त उल्लेखों से इतना निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि पाणिनि एवं महाकाव्यों (रामायण तथा महाभारत) के काल की नारियाँ वैदिक-कालीन नारियों की भाँति सामान्य मनुष्यों के बीच कुछ विशेष अवसरों को छोड़कर विचरण नहीं करती थीं तथा राज्य परिवारों की स्त्रियों को साधारण मनुष्य नहीं देख पाते थे।

आगम-कालीन स्थिति :

आगमों से ज्ञात होता है कि बौद्ध एवं जैन दोनों ही युगों में परदा-प्रथा का अभाव था। इसका प्रधान कारण यह था कि उस समय कुल-नारी की सुन्दरता का दर्शन-मात्र उसकी शील-रक्षा की समस्या उत्पन्न नहीं करता था। इसके विपरीत पुरुष-वर्ग अपने अन्तःपुर की सुन्दरता पर गौरवान्वित होता था। समाज में यथा-योग्य अवसर पर मनुष्य अपने अन्तःपुर के सौन्दर्य का प्रदर्शन भी करता था।[८३] उक्त परिस्थितियों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उस समय नारी का अदर्शन सामाजिक-दृष्टि से अभीष्ट नहीं था।

पुत्री के रूप में नारी किसी भी व्यक्ति से परदा नहीं करती थी। उस समय धार्मिक-व्यक्तियों को भिक्षा देने आदि कार्यों में कन्याएँ अन्य पारिवारिक-सदस्यों की ही भाँति भाग लेती थीं।[८४] विवाह-योग्य पुत्री भी अपने प्रस्तावित पति के सम्मुख बिना किसी परदे के विवाह के विषय में अपना मन्तव्य प्रकट कर सकती थी। कारण, उस समय पुत्री से उसके विवाह की स्वीकृति लेने का भी प्रचलन हो गया था। सुमेधा का प्रस्तावित पति 'अनिकरत्त' राजा स्वयं उससे विवाह की स्वीकृति लेने गया था।[८५] जैनागमों से ज्ञात होता है कि उस समय विवाहयोग्य वय को प्राप्त कन्याओं का भी दर्शन जन-

८३. देखिए—विवाह, उद्ध० ४२

८४. देखिए—पृ० २०

८५. देखिए—पृ० १२

साधारण के लिए सुलभ रहता था।[८६] किन्तु विवाहवय को प्राप्त पोट्टिला तथा देवदत्ता नामक कन्याओं द्वारा छत पर और यौवनावस्था को अप्राप्त सोमा द्वारा राजपथ पर गेंद खेलने के उल्लेख[८७] यह भी व्यक्त करते हैं कि यौवनावस्था प्राप्त करने के उपरान्त कन्याएँ घर के बाहर प्रायः कम जाती थीं।

सारांश यह कि आगम-कालीन समाज में जन-साधारण में पुत्री का दर्शन पुत्री के हित में अनुचित नहीं माना जाता था। यह उल्लेखनीय है कि यहाँ कन्या के परदे का आशय कन्या का जन-साधारण की निगाह से बचाव करना मात्र है, कारण, कन्याओं के वास्तविक परदे की प्रथा का प्रचलन आज तक भारत में कभी भी नहीं रहा है।

पुत्रवधू के रूप में जब नारी वैवाहिक-जीवन में प्रवेश करती थी, तब भी वह परदे का प्रयोग नहीं करती थी। कारण, उस समय पुत्रवधू के जो कर्त्तव्य थे,[८८] उनका पालन परदे के भीतर रहकर नहीं हो सकता था। इसके अतिरिक्त पुत्रवधू ससुर या अन्य विशिष्ट व्यक्ति के सम्मुख भी आवश्यकतानुसार उपस्थित होती थी तथा उनसे वार्तालाप करती थी। जैसे सुजाता पुत्रवधू बुद्ध के सम्मुख उपस्थित हुई थी।[८९] ऋषिदासी के ससुर ने स्वयं उससे अपने पुत्र की विरक्ति का कारण पूछा था।[९०] इसी प्रकार धन्ना सार्थवाह ने अपनी चारों पुत्र-

---

८६. नाया० १।१४।१०१; अंत० ३।८।४६; विवाग० १।९।१७५

८७. वही

८८. अंगुत्तर० २।३०३; थेरी० १५।२।४१०–४१४

८९. "एवं भन्ते" ति खो सुजाता घरसुण्हा भगवतो पटिस्सुत्वा येन भगवा तेनुपसङ्कमि....

—अंगुत्तर० ३।२२३

९०. तस्स वचनं सुणित्वा, सस्सु ससुरो च मं अपुच्छिसु।
किस्स तया अपरद्धं भण विस्सट्ठा यथाभूतं॥

—थेरी० १५।१।४१६

वधुओं को समस्त मित्र एवं ज्ञाति जनों की उपस्थिति में बुलाकर शालि-कण दिये थे। इतना अवश्य था कि पुत्रवधुओं को सास-ससुर की उपस्थिति में बड़े ही संयत ढंग से रहना पड़ता था।

पत्नी के रूप में नारी पुत्रवधू की अपेक्षा अधिक अधिकार सम्पन्न हो जाती थी। अतः उस अवस्था में परदा-प्रथा की आवश्यकता ही प्रतीत नहीं होती थी। चूँकि गृह-कार्य के संचालन का नेतृत्व पत्नी ही करती थी, अतः उसे समय-समय पर सामाजिक व्यक्तियों के सम्पर्क में भी आना पड़ता था। पति की आज्ञापूर्वक पत्नी धार्मिक-पुरुषों के दर्शन के लिए अकेली भी जाती थी।[९१] सूत्रकृतांग से ज्ञात होता है कि उस समय कामुक नारी साधु के पास जाकर उसे आकृष्ट करने के लिए उससे तरह-तरह से वार्तालाप करती थी तथा नाना हावभाव प्रकट करती थी।[९२]

जननी के रूप में नारी को यत्र-तत्र कहीं भी जाने की स्वतन्त्रता थी। मृगारमाता अकेली ही दोपहर में बुद्ध के पास गई थी।[९३] इसी प्रकार थावच्चा (स्थापत्या) अपने पुत्र की दीक्षा के प्रसंग से कृष्ण वासुदेव के पास गई थी।[९४]

यद्यपि नायाधम्मकहाओ में प्राप्त कुछ उल्लेखों से यह भ्रम हो जाता है कि जैन-युग में परदा प्रथा थी, किन्तु जब उन उल्लेखों को पूर्वापर प्रसंग के साथ सूक्ष्मदृष्टि से देखते हैं तो वह भ्रम दूर हो जाता है। प्रथम उल्लेख के अनुसार रानी के द्वारा देखे गये स्वप्नों के फल

९१. तए णं सिवनंदा....कोडुम्बियपुरिसे...वयासी—"खिप्पामेव लहुकरण" जाव पज्जुवासइ।

—उपा० १।५६

९२. सूय० १।४।१

९३. अथ खो विसाखा मिगारमाता दिवा दिवस्स येन भगवा तेनुपसङ्कमि...

—उदा० २।९

९४. तए णं सा थावच्चा....जेणेव कण्हस्स वासुदेवस्स भवणवरपडिदुवारदेसभाए तेणेव उवागच्छइ....

—नाया० १।५।५९

को जानने के लिए स्वप्न-पाठकों को बुलाया जाता था। जिस समय राज्यसभा में स्वप्न-पाठक फल बताते थे, उस समय वहाँ राजा के अतिरिक्त रानी भी उपस्थित रहती थी। किन्तु रानी के आसन के सामने यवनिका लगा दी जाती थी।[९५] इस उल्लेख में यवनिका मात्र से परदे के प्रचलन का निष्कर्ष निकालना अनुचित होगा क्योंकि उस समय रानी यवनिका से घिरे आसन पर बैठकर राज्य-सभा की मान-मर्यादा एवं सामान्य-शिष्टता का पालन मात्र करती थी। चूँकि उस समय राज्यसभा में नारियाँ उपस्थित नहीं होती थीं,[९६] अतः उसी मर्यादा का पालन करने के लिए यवनिका लगायी जाती थी।

दूसरे उल्लेख से ज्ञात होता है कि उस समय अंशुक नामक नारी के वस्त्रों को नाक की हवा से उड़ने वाला कहा जाता था।[९७] इस प्रकार के विशेषण से घूँघट का भाव निकाला जा सकता है। कारण, घूँघट के अस्तित्व में ही यह जाना जा सकता था कि वस्त्र नासिका की हवा से भी हिलता था या नहीं। किन्तु उक्त वस्त्र के अन्य विशेषणों के आधार पर इस विशेषण को भी वास्तविक न कहकर साहित्यिक कहना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

अतः उक्त उल्लेखों पर दृष्टिपात करने के बाद भी यही कहना उचित होगा कि आगम-कालीन नारियाँ आधुनिक अर्थ में परदे का प्रयोग नहीं करती थीं।

परदा-प्रथा के अभाव का कारण :

यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि जब रामायण एवं महाभारत काव्यों में प्राप्त उल्लेखों एवं पाणिनि द्वारा व्याख्यात असूर्यपश्या शब्द से तत्कालीन नारी-समाज में परदा-प्रथा के अस्तित्व का स्पष्ट आभास मिलता है तो बौद्ध एवं जैन-युग में उक्त प्रथा सहसा कैसे समाप्त

---

९५. अब्भितरियं जवणियं अंछावेइ···धारणीए देविए भद्दासणं रयावेइ···
—नाया० १।१।१२

९६. देखिए—उद्ध० ८२

९७. देखिए—उद्ध० ३७

हो गई ? यद्यपि इस प्रश्न का उत्तर प्रदेश-भेद कहा जा सकता है किन्तु इससे सन्तोष नहीं होता। कारण, जिन ग्रामों एवं परिवारों में वैदिक-संस्कृति का प्रभाव था, उन्हीं के कुछ सदस्य श्रमण-संस्कृति से भी प्रभावित देखे जाते थे। अतः इस प्रश्न के वास्तविक समाधान के लिए बौद्ध एवं जैन भिक्षुणी-जीवन के ऊपर दृष्टिपात करना होगा। बौद्ध-युग में बुद्ध के संघ में भिक्षुणी, भिक्षुओं की भाँति बिना किसी परदे के एक स्थान से दूसरे स्थान को जाती थी। इसी प्रकार भिक्षुणी समाज में भिक्षा के निमित्त भी जाती थी तथा आवश्यकता के अनुसार धार्मिक उपदेश भी देती थी।

भिक्षुणियों के इस आचार-विचार से उनके यह सम्भव नहीं था कि वे समाज के मनुष्यों से परदा करें। जब भिक्षुणी-वर्ग में वृद्धि हुई तो समाज की स्त्रियों पर भी भिक्षुणी-वर्ग का प्रभाव पड़ा तथा सामाजिक-स्त्रियों में भी परदा-प्रथा का प्रचलन समाप्त हो गया।

गृहस्थ-स्त्रियों को धार्मिक-क्षेत्र में पुरुष-वर्ग के समान अधिकार प्राप्त होने से भी इस प्रथा की आवश्यकता समाप्त हो गई। बुद्ध तथा महावीर ने सैद्धान्तिक-रूप से स्त्री एवं पुरुष में कोई भेद नहीं बताया। उनकी दृष्टि में जिस प्रकार मनुष्य धर्माचरण कर दुःखों को नाश करने में समर्थ था उसी प्रकार स्त्री भी दुःखों के क्षय में समर्थ थी।[९८] फलस्वरूप स्त्री-वर्ग में व्याप्त हीनता की भावना समाप्त हो गई और वह प्रत्येक दृष्टि से अपने को पुरुष-वर्ग के समकक्ष समझने लगी।

इस प्रकार श्रमण-संस्कृति के पुनरुत्थान के साथ ही सामाजिक-नारियों में परदा-प्रथा का ह्रास होने लगा तथा श्रमण-संस्कृति के पूर्ण विकास के बाद परदा समाप्तप्रायः हो गया।[९९]

---

९८. (क) "यस्स एतादिसं यानं इत्थिया पुरिसस्स वा।
स वे एतेन यानेन निब्बानस्सेव सन्तिके" ति॥

—संयुत्त० १।३१

(ख) अंगुत्तर० २।६१–६२

९९. As to the observance of the parada we are inclined to

व्यभिचार

भारतवर्ष में व्यभिचार सदैव से एक अपराध माना गया है तथा व्यभिचारी पुरुष को कठोर दंड दिया जाता रहा है। किन्तु नारी के लिए यह अपराध कभी छोटे पाप के रूप में रहा है तो कभी भीषण अपराध के रूप में। कभी दूषित स्त्री को केवल निर्धारित प्रायश्चित्त के बाद निर्दोष मान लिया जाता था तो कभी उस (दूषित) स्त्री की जीवन-लीला ही समाप्त कर दी जाती थी।

आगम-काल में एक भीषण अपराध :

आगम-कालीन समाज में व्यभिचार एक भीषण अपराध था। व्यभिचारी पुरुष या स्त्री को प्राणदंड दिया जाता था। बौद्धागमों से ज्ञात होता है कि कुल-कन्या या कुल-स्त्री के साथ व्यभिचार करनेवाले व्यक्ति के सिर का मुण्डन कर दिया जाता था तथा दोनों हाथ पीछे से बाँध दिये जाते थे, तत्पश्चात् नगर के मुख्य मार्गों पर फिराते हुए दक्षिण द्वार से बाहर ले जाकर उसका सिरच्छेद कर दिया जाता था।[१००] जैनागमों से भी इसी प्रकार के भयानक दण्ड की जानकारी होती है। कहा गया है कि पारदारिकों के हाथों तथा पैरों को काट दिया जाता था, उसे भट्टी पर चढ़ाकर तपाया जाता था तथा उसका मांस काटकर उस पर नमक छिड़का जाता था। तत्पश्चात् उसके नाक-कान काट दिये जाते थे तथा अन्त में कण्ठच्छेद कर दिया जाता

---

believe that the Buddha tore it off when he gave his clear verdict that women also had the full right of leading independent religious life.

—The Status of Women in Ancient India, p. 237

१००. ...दल्हाय रज्जुया पच्छाबाहं गाल्हबन्धनं बन्धित्वा खुरमुण्डं...दक्खिणतो नगरस्स सोसं छिज्जमानो।...अयं पुरिसो कुलित्थीसु कुलकुमारीसु चारित्तं आपज्जि, तेन नं राजानो गहेत्वा एवरूपं कम्मकारणं कारेन्ती'ति।

—संयुत्त० ३।३०३–३०४

था।[१०१] उदयन राजा ने अपने वृहस्पतिदत्त पुरोहित के लिए व्यभिचार करने पर विविध यातनाओं पूर्वक प्राणदण्ड का आदेश दिया था।[१०२]

व्यभिचार-रूप अपराध का कठोर दण्ड न केवल पुरुष-वर्ग को ही दिया जाता था अपितु व्यभिचारिणी स्त्री को भी कठिन यातना सहनी पड़ती थी। अन्तर इतना था कि व्यभिचारी पुरुष को राजा की ओर से दण्ड दिया जाता था जब कि व्यभिचारिणी स्त्री को उसका पति स्वयं दण्डित कर सकता था। एक लिच्छवी ने भरी सभा में अपनी अतिचारिणी स्त्री को मारने की घोषणा की थी।[१०३] इसका प्रधान कारण यह था कि आगम-कालीन नारी पर पति का पूर्ण प्रभुत्व होता था। उसे पर-पुरुष से दूषित अपनी पत्नी को मार डालने का पूर्ण अधिकार था, किन्तु व्यभिचारी पुरुष को मारने का अधिकार समाज के सामान्य-व्यक्ति को नहीं था। अतः उसे राजा की ओर से दण्डित किया जाता था।[१०४]

---

१०१. अवि हत्थपायछेयाए अदु वा वद्धमंसउक्कन्ते।
अवि तेयसाभितावणाणि तच्छिय खारसिंचणाइँ य॥
अदु कण्णनासछेयं कण्ठच्छेयणं तिइक्खन्ती।

—सूय० १।४।१।२१–२२

१०२. (क) बहस्सइदत्तं पुरोहियं पुरिसेहिं गिण्हावेइ जाव एएणं विहाणेणं वज्झं आणाविए।

—विवाग० १।५।११२

(ख) तुलना कीजिए—अहं णं भंते तं पुरिसं हत्थच्छिण्णगं वा···जीवियाओ ववरोवएज्जा।

—राय० सूत्र १६८

१०३. मय्हं पजापति अतिचरति, तं घातेस्सामी''ति।

—पाचि० पृ० ३०१

१०४. इमं च णं सुसेणे अमच्चे एवं वयासी—एवं खलु सामी, सगडे दारए ममं अन्तेउरंसि अवरुद्धे। तए णं से महचन्दे राया सुसेणं अमच्चं एवं वयासी—तुमं चेव णं···दण्डं वत्तेहि।

—विवाग० १।४।९८

प्राग्-आगम-काल में एक उपपातक :

जब व्यभिचार के लिए निर्धारित दण्ड को दृष्टि में रखकर बौद्ध-युग से पूर्वकालीन साहित्य पर दृष्टिपात करते हैं तो ज्ञात होता है कि बौद्ध-युग से पूर्व व्यभिचार भीषण अपराध नहीं माना जाता था और न व्यभिचारिणी नारी को प्राणदण्ड जैसा कठोर दंड अनिवार्य रूप से ही दिया जाता था। धर्मसूत्रों के अनुसार व्यभिचारिणी स्त्री को उसका पति पूर्णरूप से त्याग नहीं सकता था। इसका मुख्य कारण यह था कि तत्कालीन समाज में व्यभिचार एक उपपातक था तथा अपराधी द्वारा उचित प्रायश्चित्त करने पर वह क्षम्य था। उचित प्रायश्चित्त कर लेने के बाद व्यभिचारिणी स्त्री को समस्त अधिकार पूर्ववत् मिल जाते थे। इतना अवश्य था कि जब तक प्रायश्चित्त पूर्ण नहीं होता था, तब तक व्यभिचारिणी को गन्दे वस्त्र पहनने को दिये जाते थे तथा उतना ही भोजन दिया जाता था जितने से वह जीवित रह सके। कुछ विशेष व्यक्तियों के साथ व्यभिचार करने पर ही पत्नी को त्यागा जा सकता था। उनमें शिष्य, गुरु तथा शूद्र प्रमुख थे। तात्पर्य यह कि जब पत्नी पति के शिष्य या गुरु अथवा शूद्र से व्यभिचार करती थी, तभी उसे त्यागा जा सकता था।[१०५] चूंकि व्यभिचार से स्त्री को ही दूषित माना जाता था, अतः धर्मसूत्रों में पुरुष की अपेक्षा स्त्री के लिए ही विशेष-रूप से व्यभिचार के दण्ड का विधान विहित है।

उक्त कथन से इतना निष्कर्ष सहज ही में निकाला जा सकता है कि आगम-कालीन-समाज में व्यभिचार पुरुष एवं स्त्री दोनों के लिए ही अक्षम्य अपराध था। यही कारण था कि आगम-कालीन-समाज में पति का अतिचरण न करना पत्नी का मूल गुण माना जाता था। इसी प्रकार पत्नी का अतिचरण न करना पति का भी कर्त्तव्य था। इसके अतिरिक्त यह भी कहा जा सकता है कि दण्ड की भीषणता के कारण आगम-कालीन नारी में व्यभिचार जैसे दोष की कमी हो गई थी।

---

१०५. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ० ३२२–३२३

व्यभिचारिणी स्त्रियाँ :

इतना सब होने पर भी यह कहना नितान्त अनुचित होगा कि बौद्ध एवं जैन-युग में व्यभिचार का अभाव हो गया था। उस समय भी समाज में ऐसी स्त्रियाँ थीं जो व्यभिचार किया करती थीं। उनमें कुलटा, विधवा, भिक्षुणी, अधिक उम्र तक अविवाहित रूप से समाज में रहनेवाली कुमारियाँ आदि प्रमुख थीं।[१०६]

कुलटा-स्त्रियाँ पति के अभाव में परपुरुष से सम्बन्ध स्थापित कर लेती थीं तथा कभी-कभी जार से उन्हें गर्भ भी रह जाता था किन्तु उन्हें यह भय अवश्य रहता था कि कहीं उनका पाप प्रकट न हो जाय, अतः कई बार वे भिक्षु-भिक्षुणी की सहायता से गर्भ गिराकर गुप्तरूप से फिकवा देती थीं।[१०७]

विधवा स्त्री भी कभी-कभी दुराचरण करती थी। एक विधवा स्त्री उदायी भिक्षु के कहने पर संवास के लिए बिना किसी संकोच के तुरन्त तैयार हो गई थी।[१०८] वेश्याएँ तथा अधिक उम्र की अविवाहित कुमारियाँ भी कामवासना की तृप्ति के हेतु प्रयत्न किया करती थीं। अत. उक्त सभी स्त्रियों को दृष्टिगोचर न करना उत्तम भिक्षु का प्रधान कर्त्तव्य था।[१०९]

---

१०६. अंगुत्तर० २।३८४

१०७. (क) तेन खो पन समयेन अञ्ञतरा इत्थी पवुत्थपतिका जारेन गब्भिनी होति। सा कुलूपिकं भिक्खुं एतदवोच—"इङ्घय्य गब्भपातनं जानाही" ति।

—पारा० पृ० १०४

(ख) तेन खो पन समयेन अञ्ञतरा इत्थी पवुत्थपतिका जारेन गब्भिनी होति। सा गब्भं पातेत्वा कुलूपिकं भिक्खुनिं एतदवोच—हन्दय्ये, इमं गब्भं पत्तेन नीहरा" ति।

—चुल्ल० ३८८

१०८. "एहि, भन्ते" ति ओवरकं पविसित्वा साटकं निक्खिपित्वा मञ्चके उत्ताना निपज्जि।

— पारा० पृ० १९०

१०९. अंगुत्तर० २।३८४

व्यभिचारिणी स्त्रियाँ प्रायः भिक्षु-वर्ग के साथ सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न करती थीं। इसका प्रथम कारण तो यह था कि भिक्षु-वर्ग के साथ संवास करने का व्यभिचारिणी-स्त्रियों को सहज ही में अवसर प्राप्त हो जाता था तथा द्वितीय यह कि भिक्षु-वर्ग के साथ संवास करने का उनका दूषित-कृत्य भिक्षुओं को समाज एवं राज्य से प्राप्त सम्मान की ओट में छिप जाता था। अतः कामुक-स्त्रियाँ भ्रमण करने वाले भिक्षु को आवास देकर उनसे कामवासना की तृप्ति का प्रयत्न करती थीं।[110] भिक्षुओं का अखण्ड ब्रह्मचर्य भी कामुक-स्त्रियों के लिए आकर्षण का विषय था।[111] अतः वे भिक्षुओं के पास जाकर तरह-तरह से उन्हें आकृष्ट करने की चेष्टा करती थीं।[112]

दूसरी ओर भिक्षुणियों के कारण भी व्यभिचार को कुछ सीमा तक प्रश्रय मिला था जिसका वर्णन पहले किया जा चुका है।[113]

अतः संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि यद्यपि दण्ड की भीषणता से आगम-कालीन समाज में व्यभिचार जैसे दुष्कृत्य का ह्रास हुआ था किन्तु कुछ नारियाँ उस समय भी व्यभिचार करती थीं तथा उस व्यभिचार की प्रवृत्ति को भिक्षु-भिक्षुणी-वर्ग द्वारा भी थोड़ा-बहुत प्रश्रय मिल जाता था।

इसके अतिरिक्त आगमों में कुछ ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जो वासना का रोमांचकारी चित्र उपस्थित करते हैं—जैसे एक बार भिक्षु एवं भिक्षुणी-संघ में पुत्र तथा माता प्रविष्ट हुए। एक-दूसरे से आकृष्ट

११०. अथ खो सा इत्थी····अनुरुद्धं एतदवोच—"अय्यो, भन्ते, अभिरूपो दस्सनीयो पासादिको, अहं चम्हि अभिरूपा दस्सनीया पासादिका। साधाहं, भन्ते, अय्यस्स पजापति भवेय्यं" ति।

—पाचि० पृ० ३१

१११. ····जे इमे भवंति समणा···जा य खलु एएहिं सद्धि मेहुणधम्मं परियारणाए आउट्टाविज्जा पुत्तं खलु सा ओलभिज्जा ओयस्सि तेयस्सि····

—आचा० २।२।१ सू० २६४

११२. सूय० १।४।१।४–८

११३. देखिए—भिक्षुणी, उद्ध० २९, ३०, ३१

होने से उन्होंने (माता तथा पुत्र ने) आपस में मैथुन-धर्म का सेवन किया।[११४]

थेरीगाथा से ज्ञात होता है कि एक बार माता एवं पुत्री—दोनों ने एक दूसरे की सौत बनकर जीवन-यापन किया था।[११५]

यदि उक्त दोनों उल्लेखों में थोड़ी भी सत्यता हो तो यह कहा जा सकता है कि यदि एक ओर उस समय समाज में सदाचार की उत्कृष्ट प्रवृत्ति पाई जाती थी तो दूसरी ओर दुराचरण की पराकाष्ठा भी।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि जैनागमों में भिक्षु-भिक्षुणियों द्वारा सामाजिक-नारियों में व्यभिचार को प्रश्रय देने वाली प्रवृत्तियों में कमी हो गई थी। इसका प्रमुख कारण यह था कि जैन-युग तक न केवल भिक्षु एवं भिक्षुणी-संघ के सुसञ्चालन के लिए व्यापक नियमों का सर्जन हो चुका था अपितु भिक्षुणी की शील-रक्षा के निमित्त संघ सक्रिय सहयोग भी करने लगा था। अतः इससे यह कहा जा सकता है कि जैन-युग में भिक्षुओं तथा भिक्षुणियों द्वारा दूषित किये जाने वाले सामाजिक वातावरण में पर्याप्त सुधार हो गया था।

धार्मिक-प्रवृत्ति

भारतवर्ष सदा से धर्म-प्रधान देश रहा है। यहाँ नर-नारी का स्तर धार्मिक दृष्टि से ही निर्धारित होता रहा है। यहाँ जिसे जितने अधिक धार्मिक अधिकार प्राप्त होते हैं तथा जो जितनी ज्यादा धार्मिक-क्रियाएं करता है वह उतना ही श्रेष्ठ माना जाता है। सच तो यह है कि इस देश में प्राचीन काल से ही धार्मिक अधिकार एवं कर्त्तव्य

---

११४. तेन खो पन समयेन सावत्थियं उभो मातापुत्ता वस्सावासं उपगमिंसु—भिक्खु च भिक्खुनी च।....ते ओतिण्णचित्ता सिक्खं अपच्चक्खाय दुब्बल्यं अनाविकत्वा मेथुनं धम्मं पटिसेविंसु।

—अंगुत्तर० २।३३१

११५. उभो माता च धीता च मयं आसुं सपत्तियो।

—थेरी० ११।१।२२४

राजनीतिक एवं सामाजिक अधिकारों एवं कर्त्तव्यों से श्रेष्ठ माने जाते रहे हैं।

वैदिक-कालीन स्थिति :

वैदिक-काल में नारी का स्थान नर के समान ही श्रेष्ठ था। इसका प्रधान कारण यही था कि उसे नर के समान ही धार्मिक अधिकार प्राप्त थे। इतना ही नहीं अपितु नारी के बिना नर को यज्ञाधिकारी ही नहीं माना जाता था। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि यद्यपि मासिक-धर्म को प्राप्त नारी अपवित्र मानी जाती थी,[११६] किन्तु वह अपवित्रता ३-४ दिन की होती थी। अतः इस अपवित्रता के कारण वह अपने लिए धार्मिक-दुनियाँ में हीनता का अनुभव नहीं कर पाती थी। अतएव वैदिक-काल में नारी की धार्मिक-प्रवृत्ति में किसी प्रकार की हीनता नहीं थी। उस समय वह प्रत्येक धार्मिक कार्य में पुरुष का सहयोग करती थी।[११७]

उत्तर-वैदिक-कालीन स्थिति :

वैदिक-काल में नारी को जो नर के समान धार्मिक-अधिकार प्राप्त थे, वे धीरे धीरे क्षीण होते गये। मासिक-धर्म की अपवित्रता से नारी अपवित्र मानी जाने लगी। इसके अतिरिक्त वेदों के मंत्रों के शुद्ध उच्चारण को दिये गये महत्त्व ने भी नारी की धार्मिक-अवस्था पर कुठाराघात किया।[११८]

धार्मिक अधिकारों का हनन :

यद्यपि उत्तर-वैदिक-काल में सुविधा की दृष्टि से नारी को शनैः

---

११६. In his early history man is seen excluding woman from religious service almost every where because he regarded her as unclean mainly on account of her periodical menstruation.

—The Position of Women in Hindu Civilization, p. 194

११७. देखिए—पृ० ८४-८५

११८. श० ब्रा० १४।३।१।३५, १।१।४।१३

शनैः धार्मिक-अधिकारों से वञ्चित किया जाता रहा किन्तु विधानतः वह तब तक उन अधिकारों की अधिकारिणी कहलाती रही जब तक कि उसका उपनयन संस्कार होता रहा। उपनयन संस्कार के समाप्त हो जाने से नारी के धार्मिक अधिकारों का संवैधानिक रूप से हनन हो गया और अनुपनीत नारी शूद्रों की श्रेणी में आ गई।[११९]

अनुपनीत नारी की धार्मिक क्रियाएँ :

जब जन-साधारण को उक्त तथ्य का बोध होता है, तो साधारणतया सभी के मन में ये विकल्प उठते हैं कि क्या अनुपनीत एवं यज्ञादि-कार्य से वंचित नारी कोई धार्मिक-क्रियाएँ करती थी या नारी-जीवन में धार्मिक-प्रवृत्तियों का नितान्त अभाव हो गया था?

उक्त प्रश्नों का उत्तर तत्कालीन-साहित्य में पूर्ण रूप से प्राप्त किया जा सकता है। उदाहरण-स्वरूप आगम-साहित्य से ज्ञात होता है कि बौद्ध-भिक्षुणी-संघ के प्रादुर्भाव के पूर्व भी नारियों के जीवन में अनेक प्रकार की धार्मिक-प्रवृत्तियाँ विद्यमान थीं। इन प्रवृत्तियों में अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य तथा अन्य अनेक देवताओं की पूजा एवं वन्दना करना, नदी के घाटों पर जाकर जल में डुबकी लगाना, आधे सिर का मुण्डन कराना, पृथ्वी पर सोना, रात्रि-भोजन का त्याग आदि प्रमुख थीं।[१२०] किसी स्वजन के दिवंगत हो जाने पर गीले वस्त्र

---

११९. The Prohibitiou of Upanayana amounted to spiritual disenfranchisement of women and produced a disastrous effect upon their general position in society. It reduced them to the status of Sudras.

—The Position of Women in Hindu Civilization, p. 304

१२०. अग्गि चन्दं च सुरियं च देवता च नमस्सिहं।
नदीतित्थानि गन्त्वान उदकं ओरुहामिहं॥
बहूवतसमादाना अड्ढं सीसस्स ओलिखिं।
छमाय सेय्यं कप्पेमि रत्तिं भत्तं न भुञ्जहं॥

—थेरी० ५।५।८७–८८

एवं गीले केशों को धारण कर धार्मिक-व्यक्ति के पास जाना भी स्त्रियों की धार्मिक-प्रवृत्ति थी।[१२१] जैनागमों से इस प्रकार की धार्मिक-प्रवृत्तियों की विशद जानकारी प्राप्त होती है। जैन-युग में स्त्रियाँ किसी विशेष मनोरथ की पूर्ति के हेतु धार्मिक देवी-देवताओं की पूजा किया करती थीं। इनमें नाग, भूत, यक्ष, इन्द्र, स्कन्द, रुद्र, शिव, वैश्रमण प्रमुख थे।[१२२] धन्ना सार्थवाह की पत्नी सन्तान-प्राप्ति-रूप मनोरथ को प्राप्त करने की इच्छा से उक्त देवताओं के पास गई थी। इसी प्रकार अन्य भी अनेक उल्लेख मिलते हैं।[१२३] उक्त देवताओं की पूजा स्त्रियाँ विशेष विधि से करती थीं। वे पहले पुष्करिणी में स्नान करती थीं। तत्पश्चात् बलिकर्म करके उसी पुष्करिणी से कमल लेकर गीली साड़ी को ही पहने उससे निकलती थीं तथा पुष्प, वस्त्र, गन्ध माल्य आदि वस्तुओं को ग्रहण करती थीं।[१२४] फिर अपने इष्ट देवता के पास जाकर आलोचनापूर्वक प्रणाम करती थीं। तत्पश्चात् रोम से बनी झाड़ू से आराध्य प्रतिमा का मार्जन कर उस पर जलधारा छोड़ती थीं। उसके बाद उसको सुकुमाल सुगन्धित वस्त्र से पोंछकर उस पर बहुमूल्य वस्त्र, माल्य, गंध, चूर्ण आदि चढ़ाती थीं तथा धूपबत्ती जलाती थीं। इन सब क्रियाओं को करने के पश्चात् घुटने टककर एवं अञ्जलि बाँधकर अपने मनोरथ की प्राप्ति के हेतु प्रार्थना करती थीं।[१२५]

---

१२१. नत्ता मे, भन्ते, पिया मनापा कालङ्कता। तेनाहं अल्लवत्था अल्लकेसा इधूपसङ्कन्ता दिवा दिवस्सा ति।

—उदा० ८।८

१२२. ····जाइं इमाइं रायगिहस्स नयरस्स बहिया नागाणि य भूयाणि य जक्खाणि य इंदाणि य खंदाणि य रुद्दाणि य सिवाणि य वेसमणाणि य···

—नाया० १।२।४२

१२३. विवाग०, १।७।१३७; १।८।१५२

१२४. ····पुक्खरिणिं ओगाहेइ····ण्हाया कयबलिकम्मा उल्लपडसाडिगा जाइं तत्थ उप्पलाइं जाव सहस्सपत्ताइं गिण्हइ···तं पुप्फवत्थगंधमल्लं गेण्हइ···

—नाया० १।२।४२

१२५. जेणामेव नागघरए····आलोए पणामं करेइ····पडिमाओ लोमहत्थेणं

तथ्य यह है कि नारी नर की अपेक्षा अधिक धर्मपरायण होती थी। आगमों से भी यही तथ्य स्पष्ट होता है। नारी के उपनयन एवं उसकी वैदिक-शिक्षा पर जब प्रतिबन्ध लगा, तो उसने धर्माचरण के अन्य साधनों को अपनाना प्रारम्भ कर दिया था। कारण, नारी सदैव से थोड़े-बहुत अंशों में पुरुष पर आश्रित रहती थी। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि यद्यपि स्त्रियों का उपनीत होना प्रकट रूप से मनु के समय में बन्द हुआ था किन्तु इसके कई वर्ष पूर्व से अर्थात् ईसा पू० ५ वीं सदी से ही कन्याओं का उपनयन केवल रस्म-रिवाज रह गया था।[१२६] अतः यदा-कदा उसे भीषण विपत्तियों का भी सामना करना पड़ता था। ऐसी परिस्थितियों में नारी के लिए धर्म का बड़ा सहारा रहता था। इसीलिए वह सदैव किसी न किसी रूप में धर्म का पल्ला पकड़े रहती थी।

आगम-कालीन नारी की धार्मिक-प्रवृत्तियाँ :

श्रमण-संस्कृति के विकास के बाद नारी ने अपने खोये हुए धार्मिक-अधिकारों को बड़े उत्साह के साथ प्राप्त किया। इसका प्रमाण यह है कि नारी ने बुद्ध की इच्छा न होने पर भी संघ में प्रवेश पाने में सफलता प्राप्त की।[१२७]

बौद्ध-धर्म के प्रभाव से नारी ने अन्य धार्मिक-प्रवृत्तियों को भी अपनाया। उनमें चतुर्दशी, पूर्णिमा, प्रत्येक पक्ष की अष्टमी तथा प्रातिहार्य-पक्ष के दिन अष्टांग-व्रतों को धारण करना, उपोसथ के दिन उपवास

पमज्जइ उदगधाराए अब्भुक्खेइ पम्हलसूमालाए गंधकासाइए गायाइं लूहेइ, महरिहं वत्थारुहणं....करेइ धूवं डहइ जन्नुपायपडिया पंजलिउडा एवं वयासी...

—वही

१२६. प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति, पृ० १६१

१२७. चुल्ल० पृ० ३७३–३७४

करना, पंचशीलों का उल्लंघन नहीं करना आदि प्रमुख थीं।[१२८] उक्त सभी प्रवृत्तियाँ नारी गृहस्थाश्रम में उपासिका के रूप में रहकर करती थी।

धार्मिक व्यक्तियों के प्रति सम्मान :

आगम-युग में गृहस्थाश्रम में स्थित नर की अपेक्षा नारी धर्म में जो अधिक उत्साह दिखाती थी उसका प्रधान कारण नारी की धर्म के प्रति असीम श्रद्धा तो था ही, साथ ही समाज भी नारी से इस प्रकार की आशा करता था। पत्नीत्व की शिक्षा में यह भी सिखाया जाता था कि नारी पति के पूज्य व्यक्तियों का उचित सम्मान करे। नारी उसी शिक्षा के अनुसार धार्मिक-व्यक्तियों को भिक्षा आदि देने में महत्त्वपूर्ण योग देती थी। सुप्रिया नामक उपासिका ने एक भिक्षु को अपनी जांघ का मांस काटकर दासी द्वारा भिजवाया था।[१२९] विमान-वत्थु में नारी द्वारा धार्मिक-व्यक्तियों को दिये गये विभिन्न प्रकारों के दानों की चर्चा उपलब्ध होती है।

जैनागमों में भी नारी द्वारा धार्मिक-व्यक्तियों के प्रति किये गये उदार व्यवहार की यत्र-तत्र चर्चा की गई है। यदि कोई नारी किसी धार्मिक-व्यक्ति के प्रति उचित कर्त्तव्य का पालन नहीं करती थी, तो उसे उसका दण्ड भुगतना पड़ता था। जब ब्राह्मण-पत्नी नागश्री ने एक साधु को प्राणघातक आहार दिया तो ब्राह्मण ने नागश्री को दण्ड-स्वरूप मारपीट कर घर से निकाल दिया।[१३०] इसी प्रकार जब

१२८. चातुद्दसिं पञ्चदसिं या च पक्खस्स अट्ठमी।
पाटिहारियपक्खं च अट्ठङ्गसमागतं ॥
उपोसथं उपवसिस्सं सदा सीलेसु संवुता।
—विमा० १।१५।१२९–१३०; थेरी० २।७।३१–३२; संयुत्त०, १।२०९–२१०

१२९. न खो मेतं पतिरूपं याहं पटिस्सुणित्वा न हरापेय्यं ति। पोत्थनिकं गहेत्वा ऊरुमंसं उक्कन्तित्वा दासिया अदासि—हन्द, जे इमं मंसं सम्पादेत्वा अमुकस्मिं विहारे भिक्खु गिलानो तस्स दज्जाहि।
—महाव० पृ० २३४

१३०. नाया० २।१६।११३

द्रौपदी ने धार्मिक-व्यक्ति नारद का उचित सम्मान नहीं किया तो नारद ने उससे बदला लेने की ठान ली तथा अवसर पाकर पद्मनाभ राजा को उसके अपहरण के लिए उकसाया।[१३१] तात्पर्य यह कि आगम-काल में समाज स्त्रियों से यह अपेक्षा करता था कि वे धार्मिक-व्यक्तियों के प्रति उचित आचरण करें। इसका कारण यह था कि भिक्षु को भिक्षा आदि देने के अवसर पुरुष की अपेक्षा स्त्री को अधिक प्राप्त होते थे। स्त्रियाँ भी सामान्यतया समाज की इच्छा के अनुकूल ही व्यवहार करती थीं। धार्मिक-व्यक्तियों द्वारा स्त्रियों के लिए प्रयुक्त भगवती, श्राविका, उपासिका, धार्मिका एवं धर्मप्रिया सम्बोधनों से स्त्रियों के धार्मिक-व्यवहार के स्वरूप का अनुमान किया जा सकता है।[१३२]

धार्मिक-उत्सवों में उत्साह :

धार्मिक-अवसरों पर भी स्त्रियाँ पूर्ण उत्साह दिखाती थीं। पुत्री से लेकर वृद्धा तक सभी स्त्रियाँ धार्मिक-पुरुषों के दर्शन के लिए जाती थीं। अधिक क्या, कुछ ऐसे भी धार्मिक-उत्सव थे, जो सामान्यतया स्त्रियों के ही उत्सव माने जाते थे। इसका प्रमाण पद्मावती देवी द्वारा अपने पति से नागमहोत्सव में सम्मिलित होने के लिये किया गया अनुरोध है। अनुरोध करते हुए रानी ने कहा था कि कल मेरा नाग-महोत्सव है, आप मुझे उत्सव मनाने की आज्ञा प्रदान करें। साथ ही उसमें आप भी सम्मिलित हों।[१३३] उक्त वाक्य से यह सुस्पष्ट हो जाता है कि उस समय नाग-महोत्सव स्त्रियों का धार्मिक-उत्सव माना जाता था।

---

१३१. अहो णं दोवई देवी····ममं नो आढाइ जाव नो पज्जुवासइ। तं सेयं खलु मम दोवईए देवीए विप्पियं करेत्तए····

—वही, २।१६।१२८

१३२. से भिक्खू इत्थि···एवं वइज्जा····भगवई ति वा साविगे ति वा उवासिए त्ति वा धम्मिए त्ति वा धम्मप्पिए त्ति वा···

—आचा॰ २।४।१ सू॰ ३५७

१३३. एवं खलु सामी ! मम कल्लं नागजन्नए भविस्सइ। तं इच्छामि णं सामी !

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि आगम-काल में नारी का धार्मिक-उत्सवों में जो उत्साह था, उसका मूलकारण धार्मिक-नारियों के प्रति सामाजिक व्यक्तियों का प्रोत्साहन था। गार्हस्थ्य-जीवन में रहकर धर्माचरण करने की इच्छुक नारी को सामाजिक-व्यक्तियों की सहानुभूति प्राप्त थी। उस समय समाज ऐसे परिवारों को सम्मान की दृष्टि से देखता था जिसका नारी-वर्ग धार्मिक होता था। बौद्ध-युग के प्रारम्भ में अलबत्ता नारी के धार्मिक विश्वास एवं उत्साह पर ताने मारे जाते थे तथा विरोध भी प्रकट किया जाता था। उदाहरणस्वरूप मल्लिका की बुद्ध, धर्म एवं संघ में भक्ति देखकर प्रसेनजित् ने उसे ताना मारा, किन्तु मल्लिका पर उस ताने का कोई असर नहीं हुआ।[१३४] इसी प्रकार धानञ्जानि ब्राह्मणी की बुद्ध, धर्म एवं संघ में असीम श्रद्धा देखकर संगारव (तरुण ब्राह्मण विद्वान्) ने उसे दुतकारा था किन्तु वह भी अपने धार्मिक विश्वास से डिगी नहीं।[१३५] इस प्रकार के विरोध का मूलकारण सिद्धान्त-भेद रहता था। सारांश यह कि बौद्ध-युग में न केवल नारी धार्मिक-प्रवृत्तियों में रुचि ही लेती थी अपितु अपने धार्मिक-विश्वासों एवं प्रवृत्तियों पर दृढ़ भी रहती थी।

जैन-युग तक गृहस्थ नारी के धार्मिक-उत्साह एवं विश्वास की सराहना ही प्रायः देखी जाती थी।

उक्त समस्त कथन के आधार पर कहा जा सकता है कि आगमकालीन नारियाँ धार्मिक-प्रवृत्तियों को विश्वास एवं उत्साह के साथ करती थीं।

●

तुब्भेहिं अब्भणुन्नाया समाणी नागजन्नयं गमित्तए। तुब्भे वि णं सामी ! मम नागजन्नयंसि समोसरह।

—नाया० १।८।७३

१३४. मज्झिम० २।३५४

१३५. वही, २।४८२-४८३

उपसंहार

पुत्री

विवाह

पुत्रवधू

गृहपत्नी

जननी

विधवा

परिचारिका

गणिका एवं वेश्या

भिक्षुणी

●

: ७ : उपसंहार

गत पृष्ठों में बौद्ध एवं जैन-आगमों के आधार पर नारी-जीवन के लगभग एक हजार वर्षों का जो चित्र उपस्थित किया गया है वह भारतीय-संस्कृति का अभी तक उपेक्षित अंग रहा है। इस प्रबन्ध में वर्णित नारी-जीवन का सिंहावलोकन करने से ज्ञात होता है कि वैदिक-कालीन नारी-जीवन का विकसित-रूप चिरकाल तक नहीं रहा सका था तथा उत्तर-वैदिक-काल में नारियों की स्थिति दयनीय हो गई थी। न केवल उन्हें धार्मिक-कृत्यों (यज्ञ, वेद-मन्त्रोच्चारण आदि) को सम्पन्न करने के अधिकार से ही वंचित किया गया था अपितु उन पर अन्य अनेक बन्धन भी लगाये गये थे, जिसके कारण उनका धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक एवं बौद्धिक-विकास अवरुद्ध हो गया था। फलतः स्त्रियों का अधःपतन प्रारम्भ हो गया था।

बौद्ध-युग के आते-आते स्त्रियों की अवस्था में अत्यधिक दयनीयता आ गई थी। यद्यपि बुद्ध ने नर एवं नारी के धार्मिक-समानाधिकार की चर्चा ही नहीं की अपितु नारी की उपेक्षा का यत्र-तत्र विरोध भी किया था किन्तु समाज पर इसका प्रभाव नगण्य ही रहा क्योंकि बुद्ध ने उक्त समानाधिकार की चर्चा सिद्धान्त रूप से तो अवश्य स्वीकार की किन्तु उसे प्रयोगात्मक-रूप देने में किंचित् भी उत्साह नहीं दिखाया। इस प्रकार का वातावरण बुद्ध द्वारा भिक्षु-संघ की स्थापना के लगभग ५ वर्ष बाद तक बना रहा। अन्त में सिद्धान्ततः प्राप्त धार्मिक-समानाधिकारों के प्रयोगात्मक-रूप की प्राप्ति के उद्देश्य से महाप्रजापती गौतमी ने अन्य नारियों के साथ क्रान्तिकारी कदम उठाया। यद्यपि गौतमी को इस कृत्य में पहले दो बार निराश होना पड़ा था किन्तु बाद में आनन्द के सहयोग से उसने बुद्ध द्वारा भिक्षुणी-संघ की स्थापना करवाने में

सफलता प्राप्त कर ली। भिक्षुणी-संघ की स्थापना के बाद उससे नारी-समाज का प्रत्येक वर्ग प्रभावित हो उठा।

पुत्री :

वैदिक-युग में पुत्री की अवस्था अत्यन्त उन्नत थी। यह ठीक है कि उस समय पुरुष-सन्तान की ही कामना की जाती थी, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि पुत्री को घृणा की दृष्टि से देखा जाता था। पुत्र-प्राप्ति का कारण तत्कालीन सामरिक वातावरण ही था। कालान्तर में परिस्थितियाँ बदलीं और पुत्र-प्राप्ति के साथ धार्मिक-दृष्टिकोण भी सम्बद्ध हो गया। पुत्र को पितृ-ऋण से मुक्तिदाता एवं पुन्नामक नरक का त्राता कहा जाने लगा तथा कुछ समय बाद पुत्र-प्राप्ति ही पारलौकिक-सुख एवं शान्ति के लिए मूल कारण माना जाने लगा। इस प्रकार पुत्र-प्राप्ति को उत्तरोत्तर अधिकाधिक धार्मिक महत्त्व दिया गया जो कि पुत्री के लिए अभिशाप सिद्ध हुआ। पुत्री उत्तरोत्तर उपेक्षा की अधिकाधिक पात्र बनती गई तथा कठिन से कठिन विवाहसम्बन्धी धार्मिक-नियमों से बँधती गई। फलस्वरूप बौद्ध-युग के प्रारम्भिक काल तक पुत्री का जन्म कष्टदायक माना जाने लगा क्योंकि उस समय समाज में पुत्र के प्रति अनुराग एवं पुत्री के प्रति विराग का भाव अपनी चरम-सीमा तक पहुँच गया था।

बुद्ध ने उक्त भेदभाव की खाई को पाटने का प्रयत्न किया। उन्होंने न तो पुत्र-प्राप्ति को धार्मिक महत्त्व प्रदान किया और न ही कन्या के अल्पायु-विवाह को अनिवार्य धार्मिक-कर्त्तव्य बतलाया। परिणामतः समाज में पुत्र-पुत्री के प्रति अनुराग-विराग की भावना समाप्त होने लगी। जैन-युग तक उक्त भावना की पूर्ण समाप्ति हो गई। अब समय ने पलटा खाया और कन्या का जन्म खेद की अपेक्षा हर्ष का विषय बन गया।

यद्यपि आगम-काल में कन्याओं को पिता की सम्पत्ति पर वैधानिक-रूप से अधिकार प्राप्त नहीं था किन्तु परिवार के सभी सदस्यों के

अपरिमित स्नेह के कारण उन्हें इस अधिकार-हीनता का अनुभव ही नहीं हो पाता था। उनका बाल्यकाल सर्वतन्त्रस्वतन्त्र रूप से व्यतीत होता था। सामाजिक-दृष्टि से कन्या को पवित्र माना जाता था, अतः उनके साथ अनैतिक आचरण करने वाले व्यक्ति को प्राण-दण्ड तक दिया जाता था।

विवाह :

आगम-काल में विवाह के दृष्टिकोण में भी महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। पुत्र-प्राप्ति की भाँति वैदिक-संस्कृति में विवाह को भी उत्तरोत्तर अधिकाधिक धार्मिक महत्त्व दिया गया था। किन्तु बुद्ध ने धार्मिक-उत्कर्ष की प्राप्ति के लिए विवाह को त्याज्य बतलाया। कारण, उनका धर्म शुद्ध ब्रह्मचर्य के ऊपर आधारित था। फलतः विवाह उनके अनुयायियों में अनिवार्य धार्मिक-कृत्य न रहकर ऐच्छिक-पारिवारिक-कृत्य बन गया। इसके अतिरिक्त बुद्ध ने कन्या के अल्पायु-विवाह को उसका दुर्भाग्य बतलाया। परिणामस्वरूप कन्या के अल्पायु-विवाह का प्रचलन समाप्त होने लगा तथा जैन-युग तक भोग करने में समर्थ कन्या का ही विवाह किया जाने लगा।

विवाह के इस परिवर्तित दृष्टिकोण से कन्याओं में स्वाभिमान की भावना का उदय हुआ। अतः उनके लिए यह परिवर्तन निःसन्देह वरदान सिद्ध हुआ किन्तु नववधू के रूप में स्थित नारी-समाज के लिए विवाह का उक्त परिवर्तित दृष्टिकोण एक अभिशाप बन गया। कारण, अब विवाह एवं विवाह-विच्छेद धार्मिक-कृत्य एवं धार्मिक-अपराध न रह जाने के कारण, पुरुष-वर्ग जब और जिस परिस्थिति में चाहता था अपनी नववधू को छोड़कर, उसे सदा के लिए असहाय बनाकर प्रव्रज्या ले लेता था।

ऐच्छिक-पारिवारिक-कृत्य हो जाने से विवाहसम्बन्धी कर्मकाण्ड की भी परिसमाप्ति हो गई। अब व्यक्ति अपने पुत्र के विवाह के हेतु उपयुक्त कन्या को ले आता था अथवा लड़की का पिता उसे उपयुक्त

वर-पक्ष को दे आता था। चूँकि विवाह में वर या कन्या के संरक्षक-वर्ग का सहयोग अनिवार्य-रूप से रहता था, अतः गन्धर्व-विवाह का प्रश्न ही नहीं उठता था। इसी प्रकार आजकल की भाँति वर-यात्रा का भी प्रचलन नहीं था। जैन-युग तक विवाह को सुदृढ़ बनाने के हेतु एक निश्चित विधि अवश्य अपनायी जाने लगी थी। किन्तु उसके स्वरूप को देखते हुए कहा जा सकता है कि उस समय भी विवाह को धार्मिक-कृत्य के रूप में मान्यता नहीं दी जाती थी।

चूँकि विवाह में माता-पिता का प्रभुत्व रहता था, अतः सामान्यतया विवाह का एक ही प्रकार—माता-पिताओं द्वारा विहित विवाह था। किन्तु कभी-कभी कन्या के बदले में शुल्क लिया जाता था तथा यदा-कदा कन्या को पति-चयन का अधिकार दे दिया जाता था। अतः तत्कालीन विवाहों को विशेष रूप से तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—माता-पिताओं द्वारा विहित विवाह, क्रय-विक्रय विवाह तथा स्वयंवर विवाह।

वैवाहिक-कृत्यों में वर एवं कन्या-पक्ष एक दूसरे की जाति, प्रतिष्ठा, गोत्र आदि पर विशेष ध्यान देते थे किन्तु अनुलोम एवं प्रतिलोम विवाहों का भी प्रचलन था। तुलनात्मक दृष्टि से प्रतिलोम विवाह की अपेक्षा अनुलोम विवाह का अधिक प्रचलन था। विवाह का क्षेत्र भी अत्यन्त व्यापक था। यद्यपि सगे भाई-बहिनों के बीच वैवाहिक-सम्बन्ध नहीं होता था किन्तु अन्य सभी सम्बन्ध वैवाहिक-कृत्य में बाधक नहीं होते थे।

जैन-युग में विधिपूर्वक विवाह तो होता ही था, साथ ही उक्त अवसर पर उचित दहेज भी दिया जाता था। विशेषता यह थी कि उक्त दहेज वर का पिता अपने पुत्र एवं पुत्रवधू को देता था। दहेज में जीवनोपयोगी आवश्यक वस्तुएँ रहती थीं।

सामान्यतया पुनर्विवाह का प्रचलन नहीं था किन्तु वैश्य एवं निम्न-वर्ग में कन्याओं का यदा-कदा पुनर्विवाह भी हो जाता था। ऐसे विवाह उस परिस्थिति में होते थे जब कन्या पति द्वारा छोड़ दी जाती

थी। समाज में विवाह-विच्छेद भी पाया जाता था किन्तु नारी की अपेक्षा नर ही इसका प्रयोग अधिक करता था। बहुपतित्व-प्रथा का प्राय: अभाव था जब कि बहुपत्नीत्व-प्रथा अपनी चरम-सीमा पर थी।

पुत्रवधू :

विवाहित नारियों में पुत्रवधू की अवस्था अधिक दयनीय थी। बौद्ध-धर्म के विकास एवं भिक्षुणी-संघ की स्थापना से भी उनकी परतन्त्र एवं उत्पीड़ित अवस्था में विशेष परिवर्तन नहीं हुआ था। उन्हें सास-ससुर के कठोर नियन्त्रण में अपना जीवन यापन करना पड़ता था। सास-ससुर की अनुमति के बिना पुत्रवधू द्वारा किया गया उत्तम कार्य भी उनका गुरुतर अपराध माना जाता था जिसके कारण उसकी जीवनलीला तक समाप्त कर दी जाती थी। परिवार में उसे अधिकारपूर्ण सदस्यता नहीं के बराबर थी।

ससुर-कुल के उत्पीड़न से बचने के लिए यह आवश्यक था कि पुत्रवधू अपने आचरण से परिवार के सभी सदस्यों की प्रिय बन जाय। इसके लिए विवाह के पूर्व ही कन्या को उचित शिक्षा दी जाती थी। सास-ससुर की प्रिय पुत्रवधू को कष्ट नहीं उठाने पड़ते थे। यदि कदाचित् पति के प्रव्रजित होने पर पुत्रवधू के रूप में रहने वाली उसकी पत्नी को वैधव्य का अनुभव करना पड़ता था तब भी सास-ससुर का स्नेह उसे सुखद जीवन-यापन करने में अत्यधिक सहायक होता था।

जैन-युग में पुत्रवधू की स्थिति अपेक्षाकृत अधिक उन्नत हो गई थी। उस समय न तो सास-ससुर द्वारा उनपर अकारण कठोर अत्याचार ही किये जाते थे और न ही पुत्रवधू सास-ससुर की अवज्ञा ही करती थी। इसके विपरीत ससुर से रक्षित पुत्रवधू सौभाग्यशालिनी मानी जाती थी। जब परिवार में एक से अधिक पुत्रवधुएँ होती थीं तो उनके कार्यों का विभाजन ज्येष्ठता के आधार से न होकर बुद्धिमत्ता के आधार पर होने का भी प्रमाण मिलता है।

यद्यपि आगमों में पुत्रवधू द्वारा सास-ससुर को दी गई यातना का

भी उल्लेख मिलता है किन्तु ऐसी परिस्थिति उस समय आती थी जब सास तथा ससुर में से कोई एक होता था ।

गृहपत्नी :

आगम-युगीन गृहपत्नी की अवस्था अधिक उन्नत हो गई थी। कारण, एक ओर तो उन्हें पति के समान गृहस्थाश्रम में रहकर भी धर्माचरण का अधिकार प्राप्त हो गया था, तथा दूसरी ओर पत्नी को उचित सम्मान एवं प्रभुत्व देना पति का आवश्यक कर्त्तव्य निर्धारित किया जा चुका था। इस नवीन प्रभुता-पूर्ण सदस्यता का उत्तम नारियों ने सदुपयोग किया और वे पति के साथ अपना भी सामाजिक एवं धार्मिक-क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त करने लगीं किन्तु कुछ स्त्रियों ने इस स्वतन्त्रता एवं प्रभुता का दुरुपयोग किया। उन्होंने पति का अति-चरण करना, धन चुराना आदि अनुचित कार्य प्रारम्भ कर दिये। फलतः बौद्ध-युगीन गृहपत्नी-वर्ग उत्तम एवं अधम प्रकारों में बंट गया। जैन-युगीन पत्नी-वर्ग में इस प्रकार की विभिन्नता समाप्त-सी हो गई थी और सामान्यतया पत्नी पति के साथ मधुर दाम्पत्य-जीवन व्यतीत करने लगी थी। बौद्ध-युगीन पत्नी-वर्ग की उक्त अस्तव्यस्तता का प्रमुख कारण पराधीनता से अचानक मिली स्वाधीनता ही थी, जो कि जैन-युग तक जन्मसिद्ध अधिकार का रूप ले चुकी थी।

पत्नी के अपराधों में पति का अतिचरण सबसे अधिक भयंकर अपराध माना जाता था और उसके दण्ड-स्वरूप पत्नी की हत्या तक कर दी जाती थी। जैन-युग में भी अतिचरण अपराध को भयंकर ही माना जाता था और विभिन्न प्रकार की यातनाओं के साथ मृत्यु ही उसका दंड था। किन्तु यह कहना अनुचित न होगा कि जैन-युगीन पत्नी-वर्ग में बौद्ध-युगीन पत्नी-वर्ग की अपेक्षा अधिक शालीनता एवं स्थिरता आ गई थी।

आगमकालीन समाज में सामान्यतया पति का ही पत्नी पर प्रभुत्व रहता था किन्तु ऐसे पुरुषों को, जो शिल्प एवं कला से विहीन

होने के कारण जीविकोपार्जन करने में समर्थ नहीं होते थे या अतिवृद्ध होते थे, अपनी पत्नी का प्रभुत्व स्वीकार करना पड़ता था ।

चूंकि आगम-कालीन समाज में बहुपत्नीत्व-प्रथा अपनी पराकाष्ठा पर पहुंच गई थी, अतः पत्नी-वर्ग में सपत्नी-कृत उत्पातों का बाहुल्य था । पत्नी प्रायः अपनी सौतों का हित चाहने की जगह उनके विनाश का ही प्रयास करती थी । इस प्रकार के उत्पातों का मूल कारण यह था कि पति की प्रिय पत्नी इस आशंका से ग्रस्त रहती थी कि कहीं उसकी सौत उसे प्राप्त पति-प्रेम की एकाधिकारिणी न बन जाय जिससे उसके ऊपर अकारण ही दुःखों का पहाड़ टूट पड़े । इसके अतिरिक्त पत्नी यह भी नहीं चाहती थी कि उसकी सौत सन्तानवती हो । कारण, पति की मृत्यु के बाद उसकी सम्पत्ति पर वन्ध्या की अपेक्षा सन्तानवती-विधवा के पुत्र का ही वैधानिक अधिकार होता था । अतः पत्नी अपनी गर्भवती-सौत के गर्भ के विनाश का भी प्रयास किया करती थी ।

पत्नी के अच्छे तथा बुरे कार्यों से उसका यश एवं अपयश परिवार के साथ-साथ समाज में भी फैलता था । अतः पत्नी को प्रत्येक कार्य करते समय परिवार एवं समाज के प्रति सतर्क रहना पड़ता था ।

जननी :

भारतीय-संस्कृति में प्रारम्भ से ही जननी को विशेष सम्मान दिया जाता रहा है । वैदिक-काल में तो उसे परमात्मा के रूप में देखा ही जाता था, सूत्रकाल में भी, जब कि नारी को शूद्र के समकक्ष माना जाने लगा था, जननी को उचित सम्मान दिया जाता था ।

बौद्ध-युग में भी जननी के प्रति अत्यधिक सम्मान प्रदर्शित करने पर जोर दिया जाता था । यहाँ तक कि बुद्ध स्वयं जननी के निःस्वार्थ प्रेम की सराहना करते थे । जैन-युग में भी जननी पूज्य एवं सर्वाधिक आदरणीय-नारी थी । वह अपने पुत्र के संरक्षण में ही जीवन बिताना चाहती थी जब कि बौद्ध-युग में जननी को यदा-कदा प्रव्रज्या लेते देखा जाता था । पुत्र के प्रव्रज्यासम्बन्धी समाचार से जननी ही सर्वाधिक

दु:खी होती थी तथा प्रव्रज्या जैसे मांगलिक-कार्यों में वह अनिवार्य-रूप से उपस्थित रहती थी।

मातृत्व-पद की प्राप्ति को सामाजिक-दृष्टि से अत्यधिक महत्त्व दिया जाता था। अत: नारियाँ सन्तान के अभाव में उसे प्राप्त करने के लिए नाना प्रयास करती थीं।

बौद्धागमों से यह आभास होता है कि उस समय समाज में माता के वध जैसे भयंकर पाप का अस्तित्व था। कारण, उनमें मातृ-वध की बारम्बार निन्दा की गई है। जैन-युग तक इस भयंकर पाप में सुधार सा हो गया था।

यद्यपि बुद्ध ने सैद्धान्तिक-रूप से जननी की सेवा को अत्यधिक महत्त्व प्रदान किया था, किन्तु उसका प्रयोगात्मक-रूप उससे ठीक भिन्न था। ऐसा प्रतीत होता है कि जननी की सेवा एवं सम्मान करने के विषय में बुद्ध ने जो कुछ भी कहा, उसका सम्बन्ध गृहस्थाश्रम तक ही सीमित था, अन्यथा बुद्ध या उनके अनुयायी भिक्षु कभी भी किसी कुल-पुत्र को उसकी माता को दु:खित करने वाली प्रव्रज्या के लिए उत्साहित न करते। जैन-युग तक जननी की सेवा को अधिक प्रयोगात्मक-रूप प्रदान किया जाने लगा था।

विधवा :

विधवा हो जाने के उपरान्त भी नारी की अवस्था में सामान्यतया कोई अन्तर नहीं आता था। उस समय बाल कटवाना, रंगीन वस्त्र न पहनना, मांगलिक कार्यों में उपस्थित न रहना आदि हीनावस्था-सूचक कार्य विधवा स्त्रियों के आवश्यक कृत्य नहीं थे और न ही सती होने की दारुण-प्रथा का ही अस्तित्व था।

विधवा स्त्री के लिए वियुक्त पति की सम्पत्ति, ज्ञाति-पुरुषों का संरक्षण या परपुरुष का ग्रहण जीवन-यापन के प्रमुख साधन थे। कभी-कभी उक्त तीनों साधनों के अभाव में स्त्री-वर्ग भिक्षुणी-संघ को ही अपने जीवनयापन का साधन बनाता था।

विधवाओं का पुनर्विवाह समाज से मान्य नहीं था, तथा ऐसी विधवा-स्त्रियों का, जिनका पति मर जाता था, पुनर्विवाह नहीं होता था। आगम-काल में नियोग जैसी प्रथा का भी प्रचलन नहीं था। वस्तुतः बौद्ध एवं जैन दोनों ही धर्मों में विवाह एवं सन्तानोत्पत्ति को प्रश्रय न मिलने से उस समय न तो विधवा सामाजिक घृणा की पात्र होती थी और न ही सन्तान-प्राप्ति के हेतु पुनर्विवाह या नियोग-प्रथा का अपनाना उत्तम माना जाता था।

यहाँ तक जिन स्त्रियों के विषय में कहा गया है वे पूर्णतया सामाजिक-नारियाँ थीं, उनको प्रत्येक कार्य करते समय समाज का उचित ध्यान रखना होता था। चूंकि स्त्रियों द्वारा जीविकोपार्जन करना हेय समझा जाता था, अतः उक्त सभी नारियाँ प्रायः स्वतः जीविकोपार्जन का कार्य नहीं करती थीं। वे पिता, पति या पुत्र के आश्रित रहकर ही जीवनयापन करती थीं। किन्तु उस समय कुछ ऐसी भी स्त्रियाँ थीं, जो जीविकोपार्जन का कार्य स्वतः करती थीं। इनमें कुछ तो निर्धनता से पीड़ित होने से ऐसा करती थीं और कुछ तत्कालीन सामाजिक-व्यवस्था के कारण किसी सम्पन्न-परिवार की सदस्यता प्राप्त करने के अधिकार से वंचित होने से ऐसा करती थीं। चूंकि ऐसी स्त्रियाँ कुछ अंशों में सामाजिक नारियों के प्रतिकूल आचरण करती थीं, अतः इन्हें अर्द्ध-सामाजिक नारियाँ कहना अधिक उपयुक्त होगा। इनमें परिचारिका, गणिका एवं वेश्यावर्ग प्रमुख थे।

परिचारिका :

परिचारिकाओं में दासियों का आधिक्य था। ये प्रायः प्रत्येक सम्पन्न परिवार में रखी जाती थीं। उन पर उनके स्वामी-वर्ग का पूर्ण अधिकार होता था और जब वे स्वामी से दासता से मुक्ति प्राप्त करती थीं तभी मुक्त समझी जाती थीं। स्त्रियाँ चार प्रकार से दासियाँ बन जाती थीं—दासी की कुक्षि में जन्म लेने से, किसी से खरीदी जाने पर, प्रतिकूल परिस्थिति से स्वतः दासत्व को स्वीकार करने पर तथा युद्धक्षेत्र में बन्दी हो जाने पर।

दासियों का कार्य गृहपत्नी की आज्ञानुसार उसके प्रत्येक कार्य में सहयोग करना था किन्तु कभी-कभी कार्यविशेष के लिए भी दासी रखी जाती थी। ऐसी दासियों को विशिष्ट संज्ञा दी जाती थी जैसे कुम्भदासी, प्रेषणकारिका आदि।

वैदिक-काल में दासियों से निम्न से निम्न कार्य कराए जाते थे। यद्यपि आगम-युग में भी दासी से अधिक से अधिक कार्य कराने की प्रवृत्ति देखी जाती थी तथापि उसकी स्थिति सामान्यतया उन्नत हो गई थी। दासी के प्रति उचित व्यवहार करना प्रत्येक नर-नारी का कर्त्तव्य हो गया था। किन्तु दासी अपने स्वामी से सदैव डरती थी। चूंकि दासी व्यक्ति की निजी सम्पत्ति होती थी अतः उसे तब तक भिक्षुणी नहीं बनाया जाता था जब तक वह दासता से मुक्त न हो जाय। दासता से मुक्ति विशेष हर्ष के अवसर पर ही दी जाती थी तथा मुक्ति देते समय स्वामी उसे स्नान कराता था।

शिशु के पालन के हेतु दाइयाँ रखी जाती थीं। इनकी स्थिति दासी की अपेक्षा उन्नत होती थी। कुछ परिचारिकाएं स्वामी के मनोरंजन का कार्य करती थीं।

गणिका एवं वेश्या :

आजकल सामान्यतया यह माना जाता है कि गणिका एवं वेश्या में कोई अन्तर नहीं है तथा वे दोनों शब्द एक दूसरे के पर्यायवाची हैं। किन्तु आगमों से ज्ञात होता है कि बौद्ध-युग में न केवल गणिका तथा वेश्या पृथक्-पृथक् ही थीं अपितु उनमें उल्लेखनीय भेद भी था। गणिका गणराज्यों की देन थी। गण-राज्य की सामान्य सम्पत्ति होने से उसको गणिका कहा जाता था। उस सम्पत्ति का उपभोग प्रत्येक धनी-मानी व्यक्ति कर सकता था जब कि वेश्या शब्द ऐसी स्त्री का द्योतक था जो अपने शरीर के माध्यम से अपनी आजीविका चलाती थी।

गणिका की नियुक्ति राजा की अनुमतिपूर्वक होती थी तथा उसे

राजकीय स्तर की स्त्री माना जाता था। उसका सभी गणराजों के साथ पत्नी जैसा सम्बन्ध रहता था। अतः उसके पास अपरिमित वैभव होना स्वाभाविक था। सामाजिक एवं धार्मिक-क्षेत्रों में उसे यथेष्ट सम्मान दिया जाता था। उसके साथ सम्पर्क स्थापित करना मनुष्य के लिए गौरव की बात मानी जाती थी। वह अत्यधिक कामुक या निर्धन न होने से जिस-किसी व्यक्ति पर अपना जाल नहीं फैलाती थी। अतः बुद्ध ने उसे भिक्षुणी बनाने में सदैव उत्साह दिखाया।

गणिकाओं से विपरीत वेश्याओं का सम्पर्क जन-साधारण से होता था तथा वे अपेक्षाकृत निर्धन एवं कामुक होती थीं। अतः वे अवसर पाकर उचित-अनुचित सभी तरीकों से धन कमाने का प्रयत्न करती थीं। इसके अतिरिक्त अपने शारीरिक प्रसाधन से जन-साधारण को अपने ऊपर आकृष्ट करने का सतत प्रयत्न करती थीं। इनसे कामुक-वातावरण को प्रश्रय मिलता था। अतः प्रत्येक ब्रह्मचारी के लिए वेश्याओं का दृष्टिगोचर न होना आवश्यक था। इन्हें सरलता से भिक्षुणी नहीं बनाया जाता था। यदि किसी वेश्या को भिक्षुणी बनने की उत्कट इच्छा रहती थी तो उसे भिक्षुणी बनने के पूर्व उपासिका के रूप में रहकर अपने उत्तम आचरण को प्रमाणित करना होता था।

इस प्रकार बौद्ध-युग में गणिका एवं वेश्या पूर्णतया पृथक्-पृथक् थीं। किन्तु जैन-युग में गणराज्यों की समाप्ति के साथ ही साथ गणिका पद का आदर्श भी समाप्त हो गया और गणिकाएं राजाओं की रखेल के रूप में रहने लगीं। उनकी स्वतन्त्रता एवं प्रभुता का पूर्णतया ह्रास हो गया। अब गणिका एवं वेश्यावर्गों का सम्मिश्रण-सा हो गया। प्राचीन गणिका के आदर्श का इतना अवशेष रहा कि जैन-युगीन गणिका राजकीय-स्तर की स्त्री मानी जाती थी तथा वह अन्य गणिकाओं (वेश्याओं) का नेतृत्व करती थी।

भिक्षुणी :

बौद्ध-युग में हुई नारी-जगत की नयी क्रान्ति का प्रधान कारण

भिक्षुणी-संघ की स्थापना था। प्रारम्भ में बुद्ध नारियों को संघ में प्रवेश देने के पक्ष में नहीं थे। इसका प्रधान कारण यह था कि वे संघ को ब्रह्मचर्य पालन करने का स्थान बनाना चाहते थे तथा स्त्रियों को ब्रह्मचर्य के लिए घातक मानते थे। इसके साथ ही संघ उस समय समाज एवं राज्य की छत्रच्छाया से हीन भी था। अतः नारी को प्रवेश देने पर संघ उनकी शीलरक्षा का कठिनतम उत्तरदायित्व उठाने में असमर्थ था। किन्तु नारियों ने बुद्ध की इस नीति का अधिक दिनों तक पालन नहीं किया। पांच वर्ष बाद नारियों ने आनन्द की सहायता से संघ में प्रवेश पाने का उपक्रम किया। आनन्द ने तार्किक ढंग से नारियों को संघ में प्रवेश देने का प्रस्ताव रखा। बुद्ध ने आनन्द के तर्कों में उलझकर अनिच्छापूर्वक नारियों कोसंघ में प्रवेश की अनुमति दी। किन्तु प्रवेश देने के पूर्व उन्होंने नारियों को अनिवार्य-रूप से पालन करने योग्य कुछ ऐसे नियम बनाये जिनसे उनका स्तर संघ में भी भिक्षु-वर्ग की तुलना में सदा के लिए निम्न हो गया। दूसरे शब्दों में उन नियमों का सर्जन कर बुद्ध ने भिक्षुणी-संघ की प्रभुसत्ता हमेशा के लिए भिक्षु-संघ को दे दी।

भिक्षुणी-संघ की स्थापना का निःसन्देह नारी-समाज के प्रत्येक वर्ग में अभूतपूर्व उत्साह से स्वागत हुआ और भिक्षुणियों की संख्या बढ़ी किन्तु समाज के कुछ सदस्यों को नारी का यह रूप नहीं सुहाया। उन्होंने भिक्षुणियों की हंसी उड़ायी तथा एकान्त में अकेली पाकर उन्हें दूषित भी किया। यद्यपि बुद्ध ने ऐसी घटनाओं को रोकने के लिए अनेक नियम बनाये किन्तु नियम-निर्माण के उपरान्त ऐसी घटनाओं की पुनरावृत्ति न हुई हो, ऐसा कहना कठिन है। हां, जैन-युगीन भिक्षुणियों को इस प्रकार के अत्याचारों एवं उपहासपूर्ण व्यंगबाणों की बौछारों का सामना कम करना पड़ता था। इसका विशेष कारण यह था कि जैन-युग तक संघ की ओर से ही भिक्षुणी के शील-रक्षा का उचित प्रबंध किया जाने लगा था। अतः जैन-युग में भिक्षुणी-वर्ग एकदम निराश्रित नहीं रह गया था और न ही उन पर आसक्त होने वाले पुरुषों को ही आसानी से अवसर प्राप्त होता था। आचार्य, जो

कि भिक्षुणियों का संरक्षक होना था, उनकी शील-रक्षा के लिए उचित प्रबंध करना था। वह आवश्यकता होने पर नये नियमों का सर्जन भी करता था। भिक्षुणियाँ भी समाज की इकाई के रूप में हो गई थीं तथा उनका यथेष्ट सम्मान करना समाज के सदस्य को सामाजिक-प्रतिष्ठा के लिए आवश्यक हो गया था।

इस प्रकार भिक्षुणी-संघ ने आगम-युगीन समाज की नारियों के मनोबल को उन्नत करने में पर्याप्त सहयोग दिया किन्तु जहाँ तक नारी-शिक्षा का प्रश्न है, भिक्षुणी-संघ की स्थापना से विपरीत वातावरण पैदा हो गया। यद्यपि यह कहा जाता है कि भिक्षुणी-संघ से नारी-शिक्षा को प्रश्रय मिला किन्तु ध्यानपूर्वक देखने से इससे ठीक विपरीत निष्कर्ष पर ही पहुँचते हैं। अब वही स्त्रियाँ शास्त्रीय-शिक्षा की अधिकारिणी मानी जाने लगीं जो संसार से विरक्त रहती थीं। फलतः समाज में रहकर जीवन-यापन करने की इच्छुक नारी स्वतः अपने को शास्त्रीय-शिक्षा के अयोग्य समझने लगी। वह उक्त शिक्षा प्राप्त करने के लिए भिक्षुणी-वर्ग को ही योग्य समझती थी। समाज भी इस दृष्टिकोण से कि शास्त्रीय-शिक्षा भिक्षुणियों के लिए ही इष्ट है, सामाजिक-नारियों के लिए उसकी कोई व्यवस्था ही नहीं करता था।

किन्तु शिक्षा के अभाव में नारियों का जीवन नीरस नहीं था। वे प्रसाधन से अपने जीवन को सरस बनाया करती थीं। प्रसाधन के लिए वस्त्र विलेपन, माल्य एवं अलंकार मुख्य साधन थे। बौद्ध-युग में काशी के बने तथा जैन-युग में चीन के बने वस्त्र प्रसाधन की दृष्टि से अधिक उपयुक्त माने जाते थे। आकर्षक सौन्दर्य के लिए विलेपन का उपयोग किया जाता था। माल्याभरण सामान्य-नारी धारण करती थी जब कि अलंकाराभरण का प्रयोग केवल धनी-वर्ग की स्त्रियाँ ही करती थीं। प्रसाधन के वर्णनों से ज्ञात होता है कि उस समय नारियाँ कलात्मकता को अधिक महत्त्व देती थीं।

परदा-प्रथा का अभाव था किन्तु नारी की शील-रक्षा की ओर समाज सतर्क रहता था। स्त्री को दूषित करने वाले पुरुष को कठोर

यातनाओंपूर्वक मृत्युदण्ड दिया जाता था। इस प्रकार के दण्ड से भिक्षु-भिक्षुणियाँ मुक्त थीं अतः प्रारम्भ में कामुक-नारियाँ भिक्षु को एवं कामुक पुरुष भिक्षुणियों को अपनी कामवासना की तृप्ति का साधन बनाने का प्रयास करते थे।

सामान्यतया नारी-जीवन उत्तरोत्तर अधिक संयत बनता गया। श्रमणों के धर्म के साथ ही नारियाँ अन्य धार्मिक-कृत्यों में भी उत्साह-पूर्वक भाग लेती थीं जिससे यह ज्ञात होता है कि भारतीय-नारी को धार्मिक-अधिकारों से वंचित किये जाने पर भी वह अपने जीवन में किसी न किसी धार्मिक-कृत्य को सदैव अपनाया करती थी। तथ्य यह है कि भारतीय-नारी सदैव धार्मिक-विश्वास के विषय में पुरुष-वर्ग से आगे रही है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि बौद्ध-युग में भिक्षुणी-संघ की स्थापना के अनन्तर समाज में उत्तर-वैदिक-कालीन धार्मिक-ग्रन्थों में निहित नारी को पराधीनता में जकड़ने वाले नियमों के प्रति विद्रोह हुआ। अतः बौद्ध-युगीन नारियों में अस्तव्यस्तता पाई जाती थी किन्तु जैन-युग तक उक्त नारियों से सम्बन्धित धार्मिक-नियमों के प्रभाव में मन्दता आ जाने से उनमें स्थिरता आ गई थी।

आधार-ग्रन्थ-सूची

(क) बौद्ध-ग्रन्थ :

१ अङ्गुत्तर निकाय (चार भाग)—नालन्दा-देवनागरी-पालि-ग्रन्थमाला, विहार, १९६०

२. अपदान (खुद्दक निकाय, भाग ६—७)—नालन्दा-देवनागरी-पालि-ग्रन्थ-माला, विहार, १९५९

३. उदान (खुद्दक निकाय, भाग १)—नालन्दा-देवनागरी-पालि-ग्रन्थमाला, विहार, १९५९

४. खुद्दक पाठ (खुद्दक निकाय, भाग १)—नालन्दा-देवनागरी-पालि-ग्रन्थ-माला, बिहार, १९५९

५. चुल्लवग्ग—नालन्दा-देवनागरी-पालि-ग्रन्थमाला, विहार, १९५६

६. जातक (दो भाग)—नालन्दा-देवनागरी-पालि-ग्रन्थमाला, विहार, १९५९

७. जातक : अट्ठकथायुक्त (६ भाग, रोमन लिपि)—लन्दन, १८७७-१८९७

८. जातकट्ठकथा (प्रथम भाग)—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी १९५१

९. थेरगाथा (खुद्दक निकाय, भाग २)—नालन्दा-देवनागरी-पालि-ग्रन्थमाला, बिहार, १९५९

१०. थेरगाथा (हिन्दी)—महाबोधि सभा, सारनाथ, बनारस, १९५५

११. थेरीगाथा (खुद्दक निकाय, भाग २)—नालन्दा-देवनागरी-पालि-ग्रन्थमाला, बिहार, १९५९

१२. दीघ निकाय (तीन भाग)—नालन्दा-देवनागरी-पालि-ग्रन्थमाला, विहार, १९५८

१३. धम्मपद (खुद्दक निकाय, भाग २)—नालन्दा-देवनागरी-पालि-ग्रन्थमाला, बिहार, १९५९

१४. परमत्थदीपिनी (थेरगाथा की अट्ठकथा)—Pali Text Society, London, 1940

१५. परमत्थदीपिनी (थेरीगाथा की अट्ठकथा)—Pali Text Society, London, 1893

१६. पाचित्तिय—नालन्दा-देवनागरी-पालि-ग्रन्थमाला, विहार, १९५८

१७. पाराजिक—नालन्दा-देवनागरी-पालि-ग्रन्थमाला, बिहार, १९५८

१८. पेतवत्थु (खुद्दक निकाय, भाग २) नालन्दा-देवनागरी-पालि-ग्रन्थमाला, विहार, १९५९

१९. मज्झिम निकाय (तीन भाग)—नालन्दा-देवनागरी-पालि-ग्रन्थमाला, बिहार, १९५८

२०. महावंसो—Bombay University Publication, Bombay, 1959

२१. महावग्ग—नालन्दा-देवनागरी-पालि-ग्रन्थमाला, विहार, १९५६

२२. मिलिन्दपञ्हो—Bombay University Publication, Bombay, 1960

२३. विनयट्ठकथा नाम समन्तपासादिका (दो भाग)—नालन्दा महाविहार, नालन्दा, पटना, १९६४-१९६५

२४. विमानवत्थु (खुद्दक निकाय, भाग २)—नालन्दा-देवनागरी-पालि-ग्रन्थ-माला, विहार, १९५९

२५. संयुत्त निकाय (चार भाग)—नालन्दा-देवनागरी-पालि-ग्रन्थमाला, बिहार, १९५९

२६. सुत्तनिपात (खुद्दक निकाय, भाग १)—नालन्दा-देवनागरी-पालि-ग्रन्थमाला, विहार, १९५९

२७. समन्तपासादिका (रोमन लिपि)—Pali Text Society, London

२८. सुमंगलविलासिनी : दीघ निकाय की अट्ठकथा (तीन भाग)—Pali Text Society, London, 1886-1932

29. Buddhist Discipline (5 Vols.)—Sacred Books of the Buddhists, London, 1949-52.

30. Psalms of the Sisters—Pali Text Society, London, 1948

(ख) जैन-ग्रन्थ :

१. अणुत्तरोववाइयदसाओ—सं० डा० पी० एल० वैद्य, पूना, १९३२

२. अन्तगडदसाओ—सं० डा० पी० एल० वैद्य, पूना, १९३२

३. आचारांग-सूत्र (दो भाग)—श्री सिद्धचक्रसाहित्यप्रचारकसमिति, बम्बई, १९३५

४. उत्तराध्ययन-सूत्र—वाडेकर एवं वैद्य, पूना, १९५४

५. उपासकदशांग-सूत्र—आचार्य श्री आत्मारामजैनप्रकाशनसमिति, लुधियाना, १९६४

६. ओघनिर्युक्ति—आगमोदय समिति मेहसाना, बम्बई, १९१९
७. औपपातिक-सूत्र—पंडित भूरालाल कालीदास, सूरत, वि० सं० १९९४
८. कल्पसूत्र—झवेरचन्द्र मफतलाल, ऊञ्झा, वि० सं० १९९९
९. जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति—जैन पुस्तकोद्धार फण्ड, बम्बई, १९२०
१०. ज्ञाताधर्मकथाङ्ग (विवरण)—श्री सिद्धचक्रसाहित्यप्रचारकसमिति, बम्बई–२, १९५१
११. दशाश्रुतस्कन्ध-सूत्र—जैन ग्रन्थमाला, लाहौर, १९३६
१२. नायाधम्मकहाओ—सं० एन० वी० वैद्य, पूना, १९४०
१३. निरयावलियाओ—सं० डा० पी० एल० वैद्य, पूना, १९३२
१४. निशीथसूत्र (४ खण्डों में)—सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, १९५७–१९६०
१५. पिण्डनिर्युक्ति—जैन पुस्तकोद्धार भण्डागार संस्था, झवेरीबजार, बम्बई, १९१८
१६. बृहत्कल्प (भाष्यसहित—६ खण्डों में)—आत्मानंद जैन सभा, भावनगर, १९३३-१९३८
१७. भगवती-सूत्र (४ खण्डों में)—
प्रथम दो खण्ड—जिनागम प्रकाशक सभा, बम्बई, वि० सं० १९७४, १९७७
तृतीय खण्ड—गुजरात विद्यापीठ, अमदावाद, वि० सं० १९८५
चतुर्थ खण्ड—जैन साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट, अमदावाद, वि० सं० १९८८
१८. मूलाचार (दो भाग)—मा० दि० जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, वि० सं० १९७७-१९८०
१९. रायपसेणइयसुत्तं—गूर्जर-ग्रन्थ-रत्न-कार्यालय, अमदावाद, वि० सं० १९९४
२०. ववहारसुत्त—डा० जीवराज घेलाभाई दोशी, अमदावाद, १९२५
२१. विवागसुयं—सं० डा० पी० एल० वैद्य, पूना, १९३५
२२. सूयगडं—सं० डा० पी० एल० वैद्य, पूना, १९२८
शीलांकाचार्यकृत टीका (४ खण्डों में) श्री महावीर जैन ज्ञानोदय सोसाइटी, राजकोट, वि० सं० १९९२-१९९७
२३. स्थानांगसूत्र—शेठ माणेकलाल चुनीलाल, अमदावाद, १९३७

(ग) वैदिक-ग्रन्थ :

१. अथर्ववेद-संहिता—स्वाध्याय-मण्डल, पारडी, १९५७
२. आपस्तम्बधर्मसूत्र—बाम्बे गवर्नमेन्ट सेन्ट्रल बुक डिपो, बाम्बे, १८८२
३. ऋग्वेद-संहिता—स्वाध्याय-मण्डल, औंध, १९४०

४. ऐतरेय-ब्राह्मण—आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावलि, पूना, १९३१
५. कौषीतक्युपनिषद्: संस्करण—अष्टादश उपनिषदः (भाग १), वैदिक संशोधन मंडल, पूना, १९५८
६. गोभिल-गृह्यसूत्र—शास्त्र प्रकाश-भवन, मधुरापुर, मुजफ्फरपुर, १९३४
७. छान्दोग्य-उपनिषद्—निर्णयसागर संस्करण, बम्बई, १९३०
८. जाबाल्युपनिषद्—आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावलि, पूना
९. तैत्तिरीय-ब्राह्मण (२ भागों में)—आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावलि, पूना, १९३४, १९३८
१०. तैत्तिरीय-संहिता—स्वाध्याय-मण्डल, पारडी, १९५७
११. निरुक्त—खेमराज श्रीकृष्णदास श्रेष्ठी, बम्बई, १९२५
१२. पराशर-गृह्यसूत्र—गृह्यसूत्राणि, Leipzig, 1876
१३. पराशर-स्मृति—स्मृति-सन्दर्भः (भाग २), ५ क्लाइव रो, कलकत्ता, १९५२
१४. बृहदारण्यक-उपनिषद्—निर्णय सागर संस्करण, बम्बई, १९३०
१५. बौधायन-धर्मसूत्र—चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, बनारससिटी, १९३४
१६. बौधायन-स्मृति—स्मृतीनां-समुच्चयः, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावलि, पूना, १९२९
१७. मनुस्मृति—निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १८८७
१८. महाभारत (६ भागों में)—चित्रशाला प्रेस, पूना, १९२९-१९३३
१९. रामायण (वाल्मीकिकृत)—मद्रास ला जर्नल प्रेस, मद्रास, १९३३
२०. वशिष्ठ-धर्मसूत्रम् : संस्करण—श्री वशिष्ठधर्मशास्त्रम्, बम्बई संस्कृत एण्ड प्राकृत सीरीज, बम्बई, १९१६
२१. वशिष्ठ-स्मृति : संस्करण—स्मृति-सन्दर्भः (भाग ३), ५ क्लाइव रो, कलकत्ता, १९५२
२२. वेदव्यास-स्मृति : संस्करण—स्मृतीनां समुच्चयः, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावलि, पूना
२३. विष्णु-स्मृति—दि एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता, १८८१
२४. शतपथ-ब्राह्मण (दो भागों में)—अच्युत-ग्रन्थमाला-कार्यालय, काशी, वि० सं० १९९४

(घ) सामान्य ग्रन्थ :

(अ)

१. अमरकोष—निर्णय सागर प्रेस, मुम्बई, १९१५
२. अशोक के धर्मलेख—जनार्दन भट्ट, ज्ञानमण्डल कार्यालय, काशी, सं० १९८०

३. आगम-युग का जैन दर्शन---सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, १९६६
४. इतिहास प्रवेश (ले० जयचन्द्र विद्यालंकार)---सरस्वती प्रकाशन मन्दिर, इलाहाबाद, १९४?
५. कामसूत्रम् (वात्स्यायनप्रणीत)---चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, १९६४
६. जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज---डा० जगदीशचन्द्र जैन, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६५
७. धर्मशास्त्र का इतिहास---ले० पी० वी० काणे, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तरप्रदेश, लखनऊ, १९६५
८. नाममाला---जैन साहित्य प्रचारक कार्यालय, बम्बई, वीर निर्वाण सं०२४६३
९. निशीथ (एक अध्ययन)---पं० दलसुख मालवणिया, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, १९५९
१०. पाइअ-सद्द-महण्णवो---प्राकृत ग्रन्थ परिषद्, वाराणसी, १९६३
११. प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद---हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर-कार्यालय, बम्बई, १९५२
१२. प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति---डा० अनन्त सदाशिव अलतेकर, नन्दकिशोर एण्ड ब्रदर्स-बनारस, १९५५
१३. रघुवंश---चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, बनारससिटी, १९३८
१४. सार्थवाह---बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना १९५३
१५. हलायुध कोश---सं० जयशंकर जोशी, प्रकाशन ब्यूरो, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, वि० सं० २०१४
१६. हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता---ले० बेनीप्रसाद, हिन्दुस्तान एकेडेमी, संयुक्तप्रान्त, प्रयाग, १९३१
१७. हिन्दू परिवार मीमांसा---हरिदत्त शास्त्री, बंगाल हिंदी मंडल, कलकत्ता, वि० सं० २०११
१८. हिन्दू संस्कार---ले० डा० राजबली पाण्डेय, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९५७

(ब)

1. Buddhist India—by T. W. Rhys Davids. Susil Gupta (India) Private Ltd. Calcutta, 1959.
2. Early Buddhist Jurisprudence—by Durga Bhagvat Oriential Book Agency, Poona, 1939.

3. Encyclopaedia of Religion and Ethics (11 Vols.), New York, 1908-1931.
4. Great Women of India—Advaita Ashrama, Mayavati, Almora, Himalayas, 1953.
5. Hindu Social Organization—by P. N. Prabhu, Popular Book Depot, Bombay 1954.
6. History of Jaina Monachism—S.B. Deo. Poona, 1956.
7. Indian Education in Ancient and Later Times–by F.E. Keay, Oxford University Press, 1942.
8. Pali-English Dictionary—P.T.S., London, 1959.
9. Position of Women In Hindu Law—by Dwarka Nath, University of Calcutta, 1913.
10. The Position of Women in Hindu Civilization, (3rd Edition)—Motilal Banarasidass, Varanasi, 1962.
11. Sanskrit-English Dictionary—Monier-Williams, Oxford, 1956.
12. Slavery In Ancient India—by Dev Raj Chanana. People's Publishing House, New Delhi, 1957.
13. The Status of Women in Ancient India—by Indra, Lahore, 1940.
14. Studies in the Bhagawati-Sutra—by J. C. Sikdar, Muzaffarpur, 1964.
15. Vedic Index of Names and Subjects (Two Vols.)—by Macdonell and Keith—Motilal Banarasidass, Varanasi, 1958.
16. Women in Manu and His Seven Commentators—by R. M. Das—Kanchana Publications, Varanasi, 1962.
17. Women in the Sacred Laws—by Shakuntla Rao Shastri, Bhartiya Vidya Bhavan, Bombay, 1953.
18. Women in the Vedic Age—by Shakuntla Rao Shastri, Bharatiya Vidya Bhavan, Bombay, 1952.
19. Women Under Primitive Buddhism—by Horner, London, 1930.

अनुक्रमणिका

व

ह

●